chapter-6

:: षष्ठ अध्याय ::

:: दलित-विमर्श के सन्दर्भ में प्रेमचन्द के उपन्यासों का मूल्यांकन ::

:: षष्ठ अध्याय ::

:: दलित-विमर्श के सन्दर्भ में प्रेमचन्द के उपन्यासों का मूल्यांकन ::

प्रास्ताविक :

पूर्ववर्ती पृष्ठों में अनेकशः कहा गया है कि आधुनिक काल के प्रमुख दो विमर्शों में नारी-विमर्श और दलित-विमर्श का समावेश होता है । नवजागरण में समाज-सुधार के ये दो मुद्दे अग्रसर रहे हैं । ब्रह्मोसमाज , आर्यसमाज , प्रार्थनासमाज , थियोसाफिकल सोसायटी, आदि के नेताओं तथा स्वामी विवेकानंद , महात्मा गांधी , ज्योतिबा फुले जैसे आकाश-उदरा नेताओं के संनिष्ठ प्रयासों के कारण उक्त दोनों दिशाओं में आधुनिक काल में कार्य आरंभ हुए और उनके कुछ

अच्छे परिणाम भी सामने आये । नवजागरण की समाज-सुधारक प्रवृत्तियाँ, अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार-प्रसार, औद्योगीकरण, नगरीकरण, गद्य का विकास, पत्र-पत्रिकाओं का उदय, लेख निबंध उपन्यास कहानी प्रभृति साहित्य-रूपों का उद्भव आदि कारणों से आधुनिक काल में दलित-विमर्श का मुद्दा उभरकर आया । हिन्दी साहित्य में दलित-जीवन का चित्रण व्यापक पैमाने पर सर्वप्रथम हमें मुंशी प्रेमचन्द में दिखाई पड़ता है । यह उनकी प्रगतिवादी-मानवतावादी दृष्टि के अनुरूप भी है ।

दलित-विमर्श और बौद्धमत :

जातिप्रथा तथा वर्णाश्रम-व्यवस्था का सर्वप्रथम विरोध महात्मा बुद्ध में मिलता है । उन्होंने मनुष्यता का पक्ष लिया और उसकी "मर्यादा को यह कहकर ऊपर उठाया कि कोई मनुष्य केवल ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने से पूज्य नहीं हो जाता, न कोई शूद्र होने से पतित होता है । उच्चता और नीचता जन्म पर नहीं, कर्म पर अवलम्बित है । इसलिए ब्राह्मण भी पतित हो सकता है और शूद्र भी अपने को पूजा योग्य बना सकता है । इसी प्रकार वेदों ने यज्ञ का अधिकार केवल द्विजों को दिया था और जब उपनिषद बढ़े, तब ब्राह्मणों ने उन्हें भी ब्रह्म-विद्या का नाम देकर, शूद्रों और स्त्रियों की पहुँच से बाहर कर दिया । इसके विपरीत बुद्धदेव ने चारों वर्णों और स्त्रियों को धर्म का अधिकार समान रूप से दिया । यह ब्राह्मण धर्म के खिलाफ सबसे बड़ी बगावत थी और बौद्धों का ब्राह्मणों ने जो भी विरोध किया, वह मुख्यतः उनके इसी विद्रोह के कारण ।" [1]

बौद्ध धर्म में कई उतार-चढ़ाव आये, बाद में कुछ वाममार्गी विकृतियाँ भी उसमें आयीं, किन्तु उसका यह व्यावर्तक लक्षण हमेशा

बना रहा , जिसके रहते उसने जातिप्रथा के खिलाफ अपने हथियार कभी नहीं डाले । इस संदर्भ में डा. रामधारीसिंह दिनकर लिखते हैं —

" अगर बुद्ध नहीं होते तो इस देश में दादू और कबीर , नानक और हरिदास निरंजनी में से कोई नहीं हुआ होता । जाति-प्रथा को शिथिल करके एवं वर्णाश्रम-धर्म को चुनौती देकर बुद्ध और उनकी परंपरा के अन्य साधुओं ने ही भारत में वह अवस्था उत्पन्न की, जिसमें निर्गुनिया सन्तों का जन्म फल-फल सका । इस देश में विशाल मानवता का आंदोलन बुद्ध का ही चलाया हुआ है और उनके समय से यह आंदोलन बराबर चलता ही जा रहा है । " [2]

दलित-स्त्रियाँ और हिन्दी साहित्य का मध्ययुग :

हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में भक्तिकाल के अन्तर्गत निर्गुण संप्रदाय की ज्ञानाश्रयी शाखा के भक्त-कवि प्रायः छोटी जातियों के हैं और इन्होंने अपने काव्य के माध्यम से , भक्ति के माध्यम से जात-पांत का विरोध किया है । तभी तो कहा गया —

" जाति न पूछियो साधु की , पूछ लीजियो ज्ञान ।
मोल करो तलवार का , पड़ा रहन दो म्यान । "

डा. रामधारीसिंह दिनकर ने मध्यकाल के इस महान आंदोलन की ओर संकेत करते हुए लिखा है — " कबीरदास भारत के अग्रगण्य महान क्रान्तिकारी पुरुष हुए हैं । उनकी बड़ाई केवल इसी बात के लिए नहीं है कि उन्होंने साहसपूर्वक , हिन्दुओं और मुसलमानों की आँखों में उँगली डालकर , उन्हें यह समझाया कि मंदिर और मस्जिद के सवाल पर झगड़ने से बढ़कर मूर्खता का कोई और काम नहीं हो सकता ; अपितु इसलिए भी कि संस्कृत के विरुद्ध उन्होंने भारत में नवीन भाषा की पताका फहरायी और संस्कृति

था जो नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में था , उसे उन्होंने निम्न वर्ग के लोगों के हाथों में पहुंचा दिया । कबीर की परंपरा में जो अनेक संत और महात्मा जन्मे , उनमें नानक , रैदास , धन्ना , सुंदर-दास , दादू दयाल , रज्जब , मलूकदास और धरणीदास के नाम अत्यन्त विख्यात हैं और इनमें से कोई भी संत ब्राह्मण-वंश में नहीं जन्मा था । स्वयं कबीरदासजी हिन्दू या मुस्लिम वर्ग के जुलाहे थे । " 3

आधुनिक काल और दलित-विमर्श :

पूर्ववर्ती पृष्ठों में यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि आधुनिक काल के अन्तर्गत ब्रह्मोसमाज , प्रार्थना समाज , आर्यसमाज प्रभृति समाज-सुधारक आंदोलनों ने दलित-विमर्श की पृष्ठभूमि का निर्माण किया । राजा राममोहनराय जातिगत विभेदों के विरुद्ध थे , किन्तु वेदों और उपनिषदों के उच्चारण का कार्य वे भी ब्राह्मणों से ही कराते थे ।[4] ब्रह्मसभा के सदस्य वेदों को अपौरुषेय मानते थे तथा जाति-पाँति के उन्मूलन , अन्तर्जातीय विवाह आदि सामाजिक सुधारों के खिलाफ थे , लेकिन बाद में नवयुवक वर्ग ने वेदों के अपौरुषेय होने में शंका प्रकट की तथा जाति-पाँति का विरोध करते हुए अन्य सुधारों का भी समर्थन करना शुरू किया । इस नवयुवक वर्ग का नेतृत्व पहले अक्षयकुमार सेन और बाद में केशवचन्द्र सेन ने किया । केशवचन्द्र सेन ने समाज के काम को खूब विस्तार दिया और बारह संस्थाओं से शुरू करके पूरे देश में एक सौ चौबीस जितनी संस्थाएँ स्थापित कर दी । नवसुधार का वातावरण इस प्रकार तैयार हुआ । 5

इधर महाराष्ट्र में भी नवसुधार के आंदोलन हो रहे थे । सर नारायण चंदावरकर बताते हैं कि सन् 1840 में ही सुशिक्षित हिन्दुओं ने एक गुप्त संसद बना ली थी जिसका उद्देश्य जाति-

पथा से लड़ना और अन्य सामाजिक निषेधों को अस्वीकृत करना था । डा. आर.जी. भांडारकर समाज तथा अन्य कई सुधारकों का मानना है कि इसकी स्थापना सन् 1849 में हुई थी । श्री. डी.एस. शर्मा इस संदर्भ में बताते हैं कि सन् 1849 में परमहंस नामक एक संस्था कार्यरत थी जिसका मुख्य उद्देश्य जातिप्रथा को तोड़ना था । यह एक गुप्त संस्था थी जिसकी बैठकों में सहस्रकर नीची जातियों के साथ बनाया हुआ भोजन ग्रहण करते थे और खान-पान के निषेधों का भी जान-बूझकर उल्लंघन करते थे । बाद में केशवचन्द्र सेन की प्रेरणा से इस संस्था के पक्के सदस्यों ने सन् 1870 में प्रार्थना समाज की स्थापना की । [6]

प्रार्थना समाज के कुछ मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार थे — 1. ईश्वर ही इस ब्रह्मांड का रचयिता है । 2. ईश्वर की आराधना से ही इस संसार और दूसरे संसार में सुख प्राप्त हो सकता है । 3. ईश्वर के प्रति प्रेम और श्रद्धा , उसमें अनन्य आस्था — प्रेम , श्रद्धा और आस्था की भावनाओं सहित आध्यात्मिक रूप से उसकी प्रार्थना और उसका कीर्तन , ईश्वर को अच्छे लगने वाले कार्यों को करना — यही ईश्वर की सच्ची आराधना है । 4. मूर्तियाँ अथवा अन्य मानव-सृजित वस्तुओं की पूजा करना ईश्वर की आराधना का सच्चा मार्ग नहीं है । 5. ईश्वर अवतार नहीं लेता और कोई भी एक पुस्तक ऐसी नहीं है , जिसे स्वयं ईश्वर ने रचा या प्रकाशित किया हो , अथवा जो पूर्णतः दोषरहित हो । 6. सभी मनुष्य ईश्वर की संतान हैं , अतः उन्हें बिना किसी भेदभाव के आपस में भाई-भाई की तरह व्यवहार करना चाहिए । इससे ईश्वर प्रसन्न होता है और यही मनुष्य का कर्तव्य है । [7]

प्रार्थना समाज ने अछूतों के लिए जो कार्य किए उसका सही-सही मूल्यांकन करते हुए के. दामोदरन लिखते हैं : " उन्होंने

विधवाओं के पुनर्विवाह, स्त्रियों के लिए सांपत्तिक अधिकारों, नारी-शिक्षा, बाल विवाह के खात्मे, अन्तर्जातीय विवाह संबंधी सुधारों के द्वारा हिन्दू समाज को पुनः सशक्त बनाने का प्रयत्न किया। यह सच है कि ये लोग जाति-प्रथा के विरोधी थे और उन्होंने अस्पृश्यता तथा उससे संबंधित अनेक कुरीतियों को समाप्त कर नीची जाति वालों को ऊपर उठाने के लिए भी आंदोलन चलाया था। परन्तु उनके क्रिया-कलाप विशाल जनसमुदाय को प्रभावित नहीं करते थे — विशेषकर उन करोड़ों जनों और जाति से बहिष्कृत लोगों को, जो सदियों से दासता, अपमान और उत्पीड़न के शिकार थे। * 8

डा. दायोदरन का यह निष्कर्ष तो फी सदी सही है, लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि अछूत जातियों के उत्कर्ष के लिए प्रार्थनासमाज ने उस समय जो किया उसके महत्व को नकारा नहीं जा सकता। वस्तुतः उसके जो अग्रणी नेता थे वे सब ऊँची जातियों के सुशिक्षित और सम्पन्न वर्ग के लोग थे, अतः जन-साधारण का उनसे जुड़ना स्वाभाविक ही कहा जाएगा। परंतु बाद में जब इस वर्ग के लोग ही उसमें जुड़े तब इस आंदोलन में गति आती है। ब्राह्मोसमाज तथा प्रार्थनासमाज के प्रयत्नों से जो चेतना जाग्रत हुई और उससे जो एक नयी सामाजिक-दृष्टि विकसित हुई उसके कारण पिछड़ी जातियाँ भी इस आंदोलन में उत्साह और उमंग के साथ भाग लेने लगी।

इनमें केरल के श्री. नारायण गुरु का योगदान उल्लेखनीय कहा जा सकता है। केरल में ईळवा जाति के लोगों को अछूत समझा जाता है था। आज केरल में उनको अछूत नहीं समझा जाता और सामाजिक दृष्टि से उन्हें अपमान और शोषण का शिकार नहीं होना पड़ता। इसके लिए नारायण गुरु का आंदोलन एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

डा. दामोदरन इस संदर्भ में लिखते हैं —" नारायण गुरु ने अपने कार्य का आरंभ ऐसे मंदिरों की स्थापना से किया , जिनमें बिना किसी जाति-भेद के पूजा करने के लिए सभी लोग जा सकते थे । यह उच्च जातियों के विरुद्ध विद्रोह था ; कारण यह कि उन दिनों केवल ब्राह्मण ही मंदिरों की स्थापना कर सकते थे । ब्राह्मणों के इन मंदिरों में अस्पृश्य और अनुपगम्य नीच जाति वाले लोगों को प्रवेश करने की अनुमति नहीं थी । नये मंदिरों का नीच जाति के हिन्दुओं ने भी हृदय से स्वागत किया । बाद में तो श्रीनारायण गुरु ने ऐसे मंदिरों की स्थापना का प्रबन्ध किया , जिनमें कोई देवमूर्ति नहीं थी । श्रीनारायण गुरु का अपना आदर्श वाक्य था — "सभी मनुष्यों के लिए एक जाति , एक धर्म और एक ईश्वर हो ।" .... इस सुधारक ने सामंतवादी व्यवस्था पर भी आक्रमण किया, वह अत्यन्त प्रभावशाली था । श्रीनारायण गुरु ने जाति-प्रथा का विरोध किया और आधुनिक शिक्षा तथा संस्कृति को प्रोत्साहित किया । उन्होंने औद्योगिक शिल्प-कलाओं को भी बहुत महत्व दिया । केरल में पहली औद्योगिक प्रदर्शनी उनके सत्प्रयत्न में ही आयोजित की गई थी । उनकी इन कार्यवाहियों ने , स्वभावतः ही , उन ब्राह्मण और नायर जमींदारों के क्रोध को उभार दिया जो उस समय केरल के समाज में और पद-सोपानों पर आसीन थे । तो भी श्रीनारायण गुरु दृढ़ता से अपने पथ पर बढ़ते गये । उन्होंने अपना सारा जीवन और शक्ति , मध्ययुगीन अंधविश्वासों, जाति-प्रथा के आतंक और दलितों के सांस्कृतिक अवबोधन के विरुद्ध संघर्ष को अर्पित कर दिया ।"

इस संदर्भ में ज्योतिबा फुले को विस्मृत कर जाना उनके साथ और इतिहास के साथ अन्याय होगा । ज्योतिबा फुले माली जाति के थे । उन्होंने अब्राह्मण जातियों को संगठित कर एक नया आंदोलन चलाया । सन् 1873 में उन्होंने "सत्यशोधक समाज " की

स्थापना की । मानव-मात्र की महत्ता प्रस्थापित करना उनका उद्देश्य था । उन्होंने अब्राह्मणों से आग्रह किया कि वे अपने कर्म-काण्ड ब्राह्मणों से न करायें । सन् 1848 में उन्होंने अब्राह्मण लड़के-लड़कियों के लिए एक स्कूल खोला । सन् 1851 में पूने में उन्होंने अछूतों के लिए स्कूल खोला । इसके अतिरिक्त सरकारी सेवाओं तथा स्थानीय संस्थाओं में सभी जाति के लोगों के प्रतिनिधित्व की मांग भी रखी । [10]

कामरेड बी.टी. रणदिवे ने उनके संदर्भ में लिखा है :— "अछूतों के प्रति उनका प्रेम बेमिसाल था । वह हर दलित जाति के प्रति न्याय के पक्षधर थे । किसी भी जाति के लिए उनके मन में तनिक भी पक्षपात न था । वह मुस्लिमों और ईसाइयों के साथ भी बराबरी का बरताव चाहते थे । हैरानी की बात नहीं कि उनके आंदोलन का मूल नाम केवल सत्यशोधक आंदोलन था — यह आंदोलन मिथ्यात्व, अन्याय, हिन्दू समाज-व्यवस्था के पाखण्ड और ब्राह्मणों की सर्वोच्चता के विरुद्ध था । उन्होंने ब्राह्मणों और उनकी विचारधारा के खिलाफ जेहाद छेड़ दिया । "[11]

यद्यपि आर्यसमाज का रवैया पुनरुत्थानवादी है । मुस्लिमों तथा ईसाइयों के प्रति वे आक्रमक हैं, अतः उनका हिन्दू राष्ट्रवाद कभी भारतीय राष्ट्रवाद नहीं हो सका । फिर भी अछूत जातियों के लिए उनका योगदान महत्वपूर्ण है । पंडित जवाहरलाल नेहरू जैसे तो पुनरुत्थानवादी आंदोलनों के कटु आलोचक रहे हैं, किन्तु आर्यसमाज के इस दृष्टिकोण के लिए वे उसकी प्रशंसा में किसी प्रकार की कोताही नहीं बरतते — " इसने लड़कों और लड़कियों में शिक्षा-प्रसार, स्त्रियों की दशा सुधारने और दलित वर्गों का पद और स्तर ऊंचा उठाने की दिशा में बहुत उपयोगी काम किया । " [12]

डा. एस. नटराजन आर्यसमाज के संदर्भ में कहते हैं :

" दूसरे महान हिन्दू धार्मिक सुधार-आंदोलन , आर्य समाज ने , अछूतों के हालात सुधारने के लिए सक्रिय कदम उठाये । उसने शुद्धि आंदोलन का प्रवर्तन किया जिसका उद्देश्य इन वर्गों को हिन्दू सामाजिक सरणि में ऊपर उठाना था । उसने स्कूल शुरू किये जिनमें दलित वर्गों के किशोर-किशोरियाँ संस्कृत पढ़ते थे , उन वेदों का अध्ययन करते थे जिन्हें रूढ़िवादी हिन्दू द्विजों के अलावा किसीको नहीं पढ़ने देते थे । " 13

आर्य समाज में एक स्वामी श्रद्धानंद हुए । उनको तो डा. नटराजन अछूतों का पैगम्बर ही समझते थे और मानते थे कि अपने प्रभावशाली व्याख्यानों के द्वारा उन्होंने अछूत जातियों में एक नयी चेतना फूंक दी थी । 14 अपनी प्रख्यात पुस्तक " आर्य समाज" में लाला लाजपतराय लिखते हैं कि आर्य समाज ने भारत के दलित वर्गों को विशेषतया दो रूपों में लाभ पहुंचाया है : /1/ यज्ञोपवीत पहनने की अनधिकारी जातियों का स्तर ऊंचा करके उन्हें यज्ञोपवीत धारण करने योग्य बनाना ; और /2/ अस्पृश्यों को स्पृश्य बनाना, उन्हें उच्चतर सामाजिक आदर्शों की शिक्षा देना ताकि अंततः वे अन्य हिन्दुओं की तुलना में सामाजिक बराबरी का दरजा पा सकें । 15

विवेकानंद और अछूत समस्या :

स्वामी विवेकानंद की अधिकांश शक्ति हिन्दू धर्म को पुनरुज्जीवित करने में खर्च हुई , किन्तु वे हिन्दू धर्म को उस रूप में पुनर्जीवित नहीं करना चाहते थे जिस रूप में वह उन्हें प्राप्त हुआ था । वे धर्म की स्थापना तर्क और युक्ति के आधार पर करना चाहते थे । वे पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रगति तथा भारतीय आध्यात्मिकता का सामंजस्य चाहते थे । धर्म की उनकी अवधारणा अत्यन्त व्यापक और व्यावहारिक थी । धर्म कबीर की भाँति उनके लिए भी

नित्य व्यवहार की चीज था । विवेकानंद जाति-प्रथा के विरोधी थे । उनके अनुसार " जाति अपने आरंभिक रूप में आवश्यक और वांछनीय थी , और उसका उद्देश्य व्यक्तित्व और स्वतंत्रता का विकास करना था , किन्तु कालान्तर में वह एक भयंकर कलंक होकर रह गयी । जिस उद्देश्य से उसका निर्माण हुआ था , ठीक उसके विपरीत काम करने लगी । फलतः अनेक जन-समूहों को उसने कुचल डाला । " [16] अपने समय के धर्म और ऊंची जातियों के व्यवहार पर व्यंग्य करते हुए वे कहा करते थे — " हमारा धर्म रसोई में घुसा हुआ है । पतीली हमारा ईश्वर है और हमारा धर्म है : मुझे हाथ न लगाना , मैं पवित्र हूं । " [17]

डा. के. दामोदरन उनके संदर्भ में लिखते हैं — " उन्होंने अस्पृश्यता , जातिश्रेष्ठता की भावना , पंडे-पुरोहितों और धार्मिक आतंक की कटु निंदा की । उन्होंने घोषणा की : मैं आप लोगों को अंधविश्वासी मूर्खों के बजाय पक्के अनीश्वरवादियों के रूप में देखना ज्यादा पसंद करूंगा । अनीश्वरवादी जीवित तो होता है , वह किसी काम तो आ सकता है । किन्तु जब अंधविश्वास जकड़ लेता है तब तो मस्तिष्क ही मृतप्राय हो जाता है , बुद्धि जम जाती है और मनुष्य पतन के दलदल में अधिकाधिक गहरे डूबता चला जाता है । " [18]

विवेकानंद दलितों की सामाजिक अवस्था सुधारने के बजाय उनकी आर्थिक अवस्था सुधारने के पक्ष में थे । " वे हमसे रोटी मांगते हैं , लेकिन हम उन्हें पत्थर देते हैं । भूख से पीड़ित जनों के गले में धर्म उंडेलना , उनका अपमान करना है । भूख से अधमरे व्यक्ति को धार्मिक सिद्धान्तों की घुट्टी पिलाना उसके आत्म-सम्मान पर आघात करना है । " [19] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि विवेकानंद ऐसे प्रथम विचारक हैं जिन्होंने यह

पहचाना था कि अछूत गरीब और मजदूर हैं और उनकी समस्याएं धार्मिक या सामाजिक नहीं आर्थिक और भौतिक हैं । एक पत्र में उन्होंने लिखा था : गरीबों के लिए काम की व्यवस्था करने के लिए भौतिक सभ्यता की , यहां तक कि विलास-बाहुल्य की आवश्यकता है । रोटी , रोटी । मैं यह नहीं स्वीकार करता कि जो ईश्वर मुझे यहां रोटी नहीं दे सकता , वह स्वर्ग में मुझे अनंत सुख देगा । भारत को ऊपर उठाया जाना है । गरीबों की भूख मिटायी जानी है । शिक्षा का प्रसार किया जाना है । हमें पंडे-पुरोहित नहीं चाहिए । हमें सामाजिक आतंक नहीं चाहिए । हरेक के लिए रोटी । हरेक के लिए काम की अधिक सुविधाएं चाहिए । " 20

महात्मा गांधी और अछूत समस्या :

महात्मा गांधी ने भी हिन्दू धर्म के इस रोग को पहचाना था । भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में — स्वतंत्रता-अभियान में अस्पृश्यता-निवारण भी एक मुद्दा है । किन्तु गांधीजी मध्यममार्गी हैं । वे उतने आक्रामक और प्रखर नहीं हैं । वे हृदय-परिवर्तन और सुधार के सिद्धान्त में मानते हैं । अतः साम्राज्यवादी ताकतों की ओर से जब अछूतों के लिए पृथक निर्वाचन की बात उठती है, तब वे उसका विरोध करते हैं । उस समय के उनके शब्द हैं —

" मैं जन्म से अछूत न होते हुए भी कर्म से अछूत हूं । मेरा दावा है कि मैं अछूत समझे जानेवाले लोगों का प्रतिनिधित्व कर सकता हूं । स्पृश्य तथा अस्पृश्य का भेद निर्मूल होते ही उन भाइयों के उन्नति की आशा ही नहीं की जा सकती और इसीलिए उनके पृथक निर्वाचन क्षेत्र का मैं जी-जान से विरोध कर रहा हूं । मैं चाहता हूं कि हिन्दू धर्म से अस्पृश्यता का कलंक साफ धुल जाय । इसीके लिए मैं जी रहा हूं और आवश्यकता पड़े तो मरने के लिए भी तैयार

हूं । मैं स्पृश्य और अस्पृश्य लोगों को भाई-भाई की तरह गले मिलते देखना चाहता हूं । अंग्रेज सरकार के जातीय निर्वाचन के निर्णय के कारण अस्पृश्यता की दानवी रूढ़ि को चिरंतन रूप मिल जाने का डर पैदा हो गया है । लोगों के इन चिह्नों की ठीक-ठीक पहचान होने के कारण ही मैं इस विष को फौरन पहचान गया । हिन्दू धर्म ने अपने अछूत भाइयों के बारे में इतने पाप किये हैं कि उन पापों के परिमार्जन के लिए यदि मुझ-जैसे सौ आदमी भी प्राण दे दें तो भी दुःख की बात नहीं है । ... मेरे पास देने के लिए अपने प्राणों से अधिक और कुछ भी न होने के कारण मैं इन्हें दे देने के लिए तैयार हूं ।" 21

डा. भीमराव रामजी आंबेडकर और दलित चिन्तन :

उनका जन्म सन् 1891 में महाराष्ट्र में दलित जाति में हुआ था । स्वयं दलित होने के कारण इस संदर्भ में जो प्रखरता और प्रबुद्धता उनमें पाई जाती है, दूसरे नेताओं में उनका अभाव-सा दृष्टिगत होता है । सच्चे अर्थों में वे दलितों के मसीहा हैं । आज दलित जातियों में, विशेषतः अस्पृश्य जातियों में, जो चेतना है, आत्माभिमान है, अस्मिता-भाव है वह केवल डाक्टर साहब के कारण है । बाबा साहब के शैक्षिक विकास में दो महानुभावों का विशेष योगदान है — कोल्हापुर के महाराजा और बड़ौदा के महाराजा । उनको यदि हम बीसवीं शताब्दी का सर्वाधिक शिक्षित xxxx व्यक्ति कहें तो उसमें किसी प्रकार की कोई अतिशयोक्ति नहीं मानी जायेगी । कोलम्बिया युनिवर्सिटी से उन्होंने अर्थशास्त्र में एम.ए. तथा पी-एच.डी. की उपाधियां प्राप्त कीं । इंग्लैंड से उन्होंने एम.एस.सी और डी.एस.सी. जैसी उपाधियां प्राप्त की । देश-विदेश के कायदा-कानूनों तथा संविधानों का जितना गहरा अध्ययन उनका था और किसीका नहीं था । इसीलिए तो उनको संविधान की ड्राफ्टिंग कमिटी का अध्यक्ष बनाया गया था । सन् 1924 में उन्होंने " बहिष्कृत हितकारी

सभा" नामक संस्था की स्थापना की । इस संस्था के माध्यम से उन्होंने दलितों की आर्थिक और नैतिक उन्नति के प्रयास किये । सन् 1927 में उन्होंने "समाज समता संघ" नामक संस्था की स्थापना इसलिए की ताकि अछूतों तथा अन्य हिन्दुओं के बीच सामाजिक समानता को स्थापित किया जा सके । सन् 1942 तथा सन् 1945 में उन्होंने क्रमशः "अनुसूचित जाति फेडरेशन" तथा "पिपुल एज्युकेशन सोसायटी " जैसी संस्थाओं की स्थापना की । सन् 1925 से 1930 के बीच उन्होंने अछूतों के लिए चार सत्याग्रह आरंभ किये । सन् 1927 में उन्होंने "बहिष्कृत भारत" नामक पाक्षिक पत्र का प्रकाशन किया जिसके द्वारा वे दलित समाज की समस्याओं , उनकी पीड़ाओं और वेदनाओं को वाणी देने लगे । सन् 1927 में ही उन्होंने महाराष्ट्र के कोंकण नामक गांव में "चवदार तलाब" नामक सार्वजनिक तालाब से अछूतों को पानी भरने के अधिकार को लेकर सत्याग्रह किया । सन् 1930 में नासिक में मंदिर प्रवेश को लेकर सत्याग्रह किया । सन् 1931 में गोलमेजी परिषद के अन्तर्गत उन्होंने अछूतों के लिए पृथक मतदान की मांग की थी, जिसे लेकर बाद में गांधीजी ने अनशन सत्याग्रह किया था ।संक्षेप में उन्होंने भारत के दलितों के लिए जो किया है कोई सात जन्मों में भी नहीं कर सकता । हिन्दू धर्म की अन्यायमूलक समाज व्यवस्था से वे इतने विक्षुब्ध थे कि सन् 1935 में "येवला" नामक स्थान पर उन्होंने सार्वजनिक रूप से उद्घोषणा की थी कि जन्म से वे भले हिन्दू रहे हैं उनकी मृत्यु हिन्दू के रूप में नहीं होगी । फलतः उन्होंने अंत में बौद्ध धर्म अंगीकृत कर लिया था । इस संदर्भ में डा. कुसुम मेघवाल यथार्थ टिप्पणी देती है — " जिस व्यक्ति में भारत का संविधान रचने की सामर्थ्य थी उसे मात्र इसी कारण एक निरक्षर भट्टाचार्य एवं संस्कारहीन ब्राह्मण से नीचा माना जाता रहे कि वह एक महार के घर पैदा हुआ है । इससे बड़ा

सामाजिक अन्याय और क्या होगा और इस अन्याय का प्रतिकार डाक्टर आंबेडकर ने हिन्दू धर्म का त्याग करके किया । "22

डा. आंबेडकर का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक और मानवतावादी है । उन्होंने केवल अनुसूचित जातियों के लिए नहीं , अपितु समग्र दलित जातियों के हित को ध्यान में रखा है । ज्योतिबा फुले को वे अपना गुरु मानते हैं ।

मुंशी प्रेमचन्द और दलित विमर्श :

प्रेमचन्दजी एक मानवतावादी लेखक हैं । उनका दृष्टिकोण समूची मानवता को लेकर चलता है । अतः दलितों के प्रति संवेदना होना उनके लिए अत्यन्त स्वाभाविक है । किन्तु जैसा और अभिगम के संदर्भ में हुआ है , प्रेमचन्द की दलित-विषयक दृष्टि भी साफ और विकसित होती गयी है । शुरू में वे दयानंद सरस्वती से प्रभावित थे , बाद में बरसों तक महात्मा गांधी की विचारधारा उन पर हावी रहती है । किन्तु यहाँ भी वे ठहरते नहीं है । सन् 1930 के बाद उनके विचारों में कुछ परिवर्तन लक्षित होता है ।

एक कहानीकार की हैसियत से या उपन्यासकार की हैसियत से अपनी कहानियों और उपन्यासों में दलित वर्ग का चित्रण प्रेमचन्दजी शुरू से करते रहे हैं , किन्तु एक पत्रकार और विचारक की हैसियत से वे अछूत समस्या पर "हंस" (मासिक) और जागरण" (साप्ताहिक) में बराबर लिखते रहे हैं । "विविध-प्रसंग" भाग-2 में "छूत-अछूत" शीर्षक से यह सामग्री संकलित की गई है । यहाँ कुछ विचार वहाँ से उद्धृत किए गए हैं :—

(1) भारत का उद्धार अब इसीमें है कि राष्ट्रीय-धर्म के उपासक बनें , विशेष अधिकारों के लिए न लड़कर , समान अधिकारों के लिए लड़ें , हिन्दू या मुसलमान , अछूत या ईसाई बनकर नहीं , भारतीय बनकर संयुक्त उन्नति की ओर अग्रसर हों , अन्यथा हिन्दू,

मुसलमान, अछूत और सिक्ख सब रसातल को चले जायेंगे ।... हम मसजिद में जाएं या मंदिर में, हिन्दी पढ़ें या उर्दू, धोती बांधें या पाजामा पहनें, हम स्वाधीन हैं, लेकिन धर्म के नाम पर राष्ट्र को भिन्न-भिन्न दलों में विभक्त करना, ईश्वर और मनुष्य के संबंधों को राष्ट्रीय मामलों में घसीट लाना, राष्ट्रीय भारत कभी गवारा न करेगा । ... संपूर्ण भारत का हित एक है, उसमें कोई विभिन्नता नहीं है । " [23]

§2§ काशी के सनातनधर्मी नेताओं ने नवम्बर सन् 1932 में पुरी के शंकराचार्य के नेतृत्व में अछूतों के मंदिर प्रवेश को लेकर उसके विरोध में जुलूस निकाला था, तब 21 नवम्बर के जागरण में उस जुलूस को "जाति के दलित और पीड़ित अंग को ठोकरें मारने वालों" की संज्ञा देते हुए उन्हें बुरी तरह से लताड़ा था — " फिर क्यों न धर्म का संसार में हरास हो, क्यों न उस धर्म को अफीम का नशा समझें, क्यों न गिरजे धूलसात् हाये जाएं और धर्म को कलंकित करने वाले इन स्तम्भों का समाज से बहिष्कार कर दिया जाए । ... जो आदमी इस तत्व को § आत्मा की एकता § नहीं समझता, वह वेदों और शास्त्रों का पंडित होने पर भी मूर्ख है, जो दुःखियों के दुःख से दुःखी नहीं होता, जो अन्याय देखकर उत्तेजित नहीं होता, जो समाज में ऊंच-नीच, पवित्र-अपवित्र के भेद को बढ़ाता है, वह पंडित होकर भी मूर्ख है । " [24]

इस संदर्भ में डा. कांतिमोहन ने गांधीजी और मुंशी प्रेमचन्द के दृष्टिकोण की तुलना करते हुए यथार्थ विश्लेषण किया है कि गांधीजी अपने इन विरोधियों से भी शालीनता से पेश आते हैं और उनसे हर समय बातचीत के लिए तत्पर रहते हैं, प्रेमचन्दजी उतने सहिष्णु नहीं हैं । वे तो इन तत्वों के बहिष्कार तक की बात कर डालते हैं । यह उग्रता और उदग्रता प्रेमचन्द की मौलिकता है । [25]

(3) दिसम्बर पाँच सन् 1932 में "जागरण" में प्रेमचन्दजी ने एक छोटी-सी टिप्पणी दी है : —" नागपुर में हरिजन बालकों के के लिए अलग एक छात्रालय बनाया गया है । इससे तो अछूतपन मिटेगा नहीं , और दृढ़ होगा । उन्हें तो साधारण छात्रालयों में बिना किसी विचार के स्थान मिलना चाहिए ।" 26 यहाँ प्रेमचंद की मंशा साफ है , पर लगता है शायद वे समस्या की तह तक नहीं पहुँचे हैं । यहाँ वे बाबासाहब से थोड़े अलग पड़ते हैं । बाबा साहब ने ऐसे छात्रालय शुरू करवाये थे । सर्व-साधारण छात्रालयों में उन अछूत छात्रों को रखने से उनमें वह चेतना नहीं फूँकी जा सकती जो बाबा-साहब फूँकना चाहते थे । बिना इस चेतना के , बिना इस आग के , उनमें हीनता-ग्रंथि के बँध जाने का खतरा रहता है । छात्रावास में साथ-साथ रहकर भी वे अलग हो सकते हैं । कई बार एक जहर के निवारण के लिए दूसरे प्रकार का जहर देना आवश्यक हो जाता है । जब तक सामाजिक, धार्मिक , आर्थिक बराबरी स्थापित नहीं हो जाती ; बाबा साहब का अभिगम ही अधिक व्यावहारिक प्रतीत होता है ।

(4) अछूतों के मंदिर-प्रवेश के मसले को लेकर , प्रेमचन्द एक तरफ जहाँ गांधीजी का समर्थन कर रहे हैं , वहाँ यह भी स्पष्ट कर रहे हैं कि केवल मंदिर-प्रवेश ही इस मसले का हल नहीं है , अछूतों का आर्थिक स्तर भी ऊपर उठना चाहिए —" हरिजनों की समस्या केवल मंदिर-प्रवेश से हल होने वाली नहीं है । उस समस्या की आर्थिक बाधाएं धार्मिक बाधाओं से कहीं कठोर हैं । ... असल समस्या तो आर्थिक है । यदि हम अपने हरिजन भाइयों को उठाना चाहते हैं तो हमें ऐसे साधन पैदा करने होंगे जो उन्हें उठने में मदद दें । विद्यालयों में उनके लिए वजीफे करने चाहिए , नौकरियाँ देने में उनके साथ थोड़ी-सी रियायत करनी चाहिए । हमारे जमींदारों के हाथ में उनकी दशा सुधारने के बड़े-बड़े उपादान

हैं । उन्हें घर बनाने के लिए काफी जमीन देकर , उनसे बेगार लेना बन्द करके , उनसे सज्जनता और भलमनसी का बरताव करके हम हरिजनों की बहुत कुछ कठिनाइयाँ दूर कर सकते हैं । समय तो इस समस्या को आप ही हल करेगा , पर हिन्दू जाति अपने कर्तव्य से मुँह नहीं मोड़ सकती । "[27]

[5] सन् 1933 में 8 मई को गाँधीजी ने 21 दिनका व्रत शुरू किया था , तब " महात्मा तथा " शीर्षक से प्रेमचंदजी ने "जागरण" के संपादकीय में लिखा था — " क्या अब भी हम अपने बड़प्पन का, अपनी कुलीनता का ढिंढोरा पीटते फिरेंगे । यह ऊँच-नीच , छोटे-बड़े का भेद हिन्दू समाज के रोम-रोम में व्याप्त हो गया है । ... हम आदमी पीछे हैं , चौबे या तिवारी पहले । ... यह ईश्वर की समस्या भी आदमी के आधार पर या इन्हीं किसी आधार पर हल करनी होगी । उसका साम्प्रदायिक आधार नष्ट करना होगा । हमें इन छोटे-छोटे भेद-भावों के संस्कार करना होगा , उन्हें उस अग्निकुंड में डालना होगा , जो महात्मा गांधी ने अपने तेज से प्रज्वलित किया है । एक दिन झाड़ू हाथ में लेकर सड़कों पर तमाशा कर देने से यह अहंकार न मिटेगा , जो हरिजनों के अपमान का मुख्य कारण है । इसकी गहरी जड़ों को खोदकर समाज से निकालना होगा ।"[28]

[6] दलित के सम्बन्ध किसी भी मनुष्य के प्रेमचन्द कितनी अंतरंगता से जुड़े हुए हैं उसका परिचय "जागरण" के संपादकीय से प्राप्त होता रहता है । कानपुर म्युनिसिपैलिटी ने हरिजनों को कुछ आर्थिक सहायता की थी । 19 जून सन् 1933 के संपादकीय में प्रेमचन्द की टिप्पणी देखिए : — " कानपुर म्युनिसिपैलिटी ने हरिजनों के मकानों के लिए जितनी उदारता से लगभग डेढ़ लाख रुपये की व्यवस्था कर दी है , उस पर हम उसके चैयरमैन मि. ब्रजेन्द्र

स्वस्थ को बधाई देते हैं । हरिजनों के उद्धार का काम स्थये में पन्द्रह आने हमारी म्युनिसिपैलिटियों पर निर्भर है । अगर ये संस्थाएं अपने मेहतरों और डोमों के लिए ऐसी सुविधाएं पैदा कर दें , जिनसे वे आसानी से सफाई का काम कर सकें , अच्छे और साफ़ मकानों में रह सकें , अच्छा भोजन और वस्त्र पा सकें और अपने बच्चों को मदरसों में भेज सकें , तो हरिजन समस्या बहुत कुछ हल हो जाती है। है ।" 29

§7§ दिसम्बर सन् 1933 के "हंस" के संपादकीय में "साहित्य और कला में घृणा की उपयोगिता " के अन्तर्गत उन्होंने तत्कालीन साहित्य की भूमिका को रेखांकित किया था —" प्राचीन साहित्य धर्म और ईश्वरद्रोहियों के प्रति घृणा और उनके अनुयायियों के प्रति श्रद्धा और भक्ति के भावों की सृष्टि करता रहा । नवीन साहित्य समाज का घुन घुसने वालों , रंगे सियारों , हथकंडेबाज़ों और जनता के अज्ञान से अपना स्वार्थ सिद्ध करने वालों के विरुद्ध उतने ही जोर से आवाज़ उठा रहा है और दीनों , दलितों , अन्याय के हाथ सताये हुओं के प्रति उतने ही जोर से सहानुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा है ।" 30

§8§ प्रेमचन्द पर अपने समय में कई कोणों से हमले हो रहे थे , उसका जिक्र पूर्ववर्ती पृष्ठों में किया जा चुका है । सन् 1934 8 जनवरी के "जागरण" में उन्होंने " क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं ? " शीर्षक से एक लेख लिखा —" शिकायत है कि हमने अपनी तीन-चौथाई कहानियों में ब्राह्मणों को काले रंगों में चित्रित करके अपनी संकीर्णता का परिचय दिया है , जो हमारी रचनाओं पर अमिट कलंक है । हम कहते हैं कि अगर हममें इतनी शक्ति होती , तो हम अपना सारा जीवन हिन्दू-जाति को पुरोहितों , पुजारियों , पंडों और धर्मोपजीवी कीटाणुओं से

मुक्त कराने में अर्पण कर देते । हिन्दू जाति का सबसे घृणित कोढ़, सबसे लज्जाजनक कलंक यही टकेंयी दल है, जो एक विशाल जोंक की भाँति उसका खून चूस रहा है, और हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग में यही सबसे बड़ी बाधा है ।" 31

प्रेमचन्द के इस दृष्टिकोण पर अपनी टिप्पणी देते हुए डा. कांतिमोहन इन दोनों के सूक्ष्म अंतर को रेखांकित करते हैं — " सम्पूर्ण गांधी वा मय या अन्य गांधीवादी चिन्तकों के साहित्य में इस "टकेंयी दल" पर ऐसा प्रचंड आघात ढूँढे नहीं मिलता । गांधीजी सनातनी ब्राह्मणों के इस आचरण को हिन्दू धर्म-शास्त्र-विरोधी तो जरूर मानते थे लेकिन "राष्ट्रीयता में सबसे बड़ी बाधा" नहीं । ... गांधीजी का कहना था कि हिन्दू लोग अछूतों को स्वराज्य देकर ही अंग्रेजों से स्वराज्य की माँग करने के हकदार बन सकते हैं । लेकिन, प्रेमचन्द इस पूरे सवाल को इस अंदाज से रखते हैं गोया सामाजिक स्वाधीनता के बिना राजनीतिक स्वाधीनता का कोई मतलब नहीं ।" 32

ऊपर जिस लेख का उल्लेख किया गया है उसके अंत में प्रेमचन्द लिखते हैं —" पुरोहितों के प्रभुत्व के दिन अब बहुत थोड़े रह गये हैं और समाज और राष्ट्र की भलाई इसीमें है कि जाति से यह भेद-भाव, यह एकांगी प्रभुत्व, यह खून चूसने की प्रवृत्ति मिटायी जाय, क्योंकि जैसा मैंने पहले कहा है, राष्ट्रीयता की सबसे बड़ी बाधा वर्णव्यवस्था, ऊँच-नीच के भेद और धार्मिक पाखंड की जड़ खोदना है ।" 33

इस संदर्भ में अपनी सार्थक टिप्पणी देते हुए डा. कांतिमोहन लिखते हैं —" इस बिन्दु पर प्रेमचन्द अछूत समस्या पर गांधीवादी प्रभामंडल से बाहर आते नजर आते हैं, हालांकि अछूतोद्धार के उनके सभी प्रयत्नों को पूरा-पूरा समर्थन देते समय भी वे उसे धार्मिक या

नैतिक नहीं , बल्कि शुद्ध राष्ट्रीय-राजनीतिक दृष्टि से देखते आ रहे थे और गांधीजी की तुलना में अछूत समस्या की आर्थिक अंतर्वस्तु को कहीं अधिक स्पष्टता और दृढ़ता से रेखांकित कर रहे थे ।[34]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इतना तो असंदिग्धतया कहा जा सकता है कि अछूत-विषयक महात्माजी का दृष्टिकोण अधिक उग्रता लिए हुए नहीं है , किन्तु उनकी नीयत पर प्रश्न नहीं किया जा सकता । वे आत्मा की एकता और हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं , रावण के वध में नहीं , उसके हृदय-परिवर्तन में उनका विश्वास है । अंग्रेजी शासन को नापसंद करते हुए भी वे अंग्रेजों को अपना शत्रु नहीं मानते थे । उसी प्रकार पंडे-पुरोहितों के प्रति भी उनमें नफरत का भाव नहीं है । वे उनमें भी उसी आत्मा के दर्शन करते हैं , जो आत्मा अछूतों या अस्पृश्यों में है । अतः डाक्टर साहब या बाद में प्रेमचन्द में जो उग्रता और उद्दामता पायी जाती है , उसका महात्माजी में अभाव-सा प्रतीत होता है ।

दलित-विमर्श और प्रेमचन्द के उपन्यास :

यद्यपि दलित-विमर्श प्रेमचन्द के समग्र लेखन में विद्यमान है , और कहानियों तो वह और भी अधिक स्पष्ट रूप से उभर कर आया है , तथापि यहाँ हमारा उपक्रम प्रेमचन्द के उपन्यासों के संदर्भ में दलित-विमर्श को जाँचने-परखने का होगा । प्रस्तुत प्रबंध का विषय भी उपन्यासों तक महदूद है । अतः यहाँ "देवस्थान रहस्य" , "प्रेमा", "वरदान" , "सेवासदन" , "प्रेमाश्रम" , "रंगभूमि" , "कायाकल्प" , "गबन" , "कर्मभूमि" , " गोदान" प्रभृति उपन्यासों को इस परिप्रेक्ष्य में जाँचने-परखने का एक प्रयास किया जा रहा है । प्रेमचन्द के उपन्यासों की उपर्युक्त सूचि से इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि एक जागरूक मानवतावादी-जनवादी लेखक के नाते प्रेमचन्द में दलित-चेतना प्रारंभ से ही पाया जाता है । वे भले जातिगत अर्थ में दलित न रहे हों , परंतु दलितों के प्रति उनकी जो संवेदना

है , उनका जो अन्तरित चिंतन है , वह आश्चर्य है ।

देवस्थान रहस्य :

यह प्रेमचन्द का उर्दू उपन्यास है और उसका मूल नाम "असरारे मआबिद उर्फ देवस्थान रहस्य" है । यह उर्दू साप्ताहिक "आवाज-ए-खल्क" में 8 अक्तूबर सन् 1903 से 1 फरवरी 1905 तक धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था । " अछूत-प्रथा से सीधे-सीधे न जुड़े होने पर भी इस उपन्यास का अध्ययन इस नजरिये से उपयोगी है , क्योंकि अपने आरम्भी लेखन में प्रेमचन्द ने अछूत समस्या का चित्रण इसी राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में किया और अछूत समस्या को लेकर उनके चिंतन और लेखन को सही ढंग से समझने की यही कुंजी है । अछूत समस्या को वह उन बेड़ियों में से एक मानते थे जिन्हें काटे बिना भारत एक राष्ट्र नहीं बन सकता और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की शक्तियां मजबूत नहीं बन सकतीं । प्रेमचन्द और अन्य सुधारवादी लेखकों-चिंतकों आदि के बीच विभाजक रेखा यही है कि प्रेमचन्द सुधार-कार्य का महत्व राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की जरूरतों के तहत ही समझते हैं । ... अछूत समस्या , साम्प्रदायिक विद्वेष , नारी मुक्ति आदि समस्याओं के पीछे उनका मुख्यकोण राष्ट्रीय है । " [35] यह उपन्यास लड़खड़ाते भारतीय सामंती समाज की जीती तस्वीर है । प्रेमचन्द के लेखन का यह प्रस्थान बिन्दु है , तथापि यहाँ यह कथित हुए बिना नहीं रहता कि अपने लेखन के इस प्रारम्भकाल में भी प्रेमचन्द भारतीय समाज व्यवस्था की विसंगतियों को समझने की भरपूर चेष्टा कर रहे थे । "होनहार बिरवान के होत चिकने पात" वाली लोकोक्ति बराबर चरितार्थ होने जा रही थी । प्रस्तुत उपन्यासों में उन्होंने अछूत-समस्या के उस पक्ष को रखा है जो इस अमानवीय व्यवस्था के मूल में है । समाज के दो वर्ग हैं - कमेरों का वर्ग

और लुटेरों का वर्ग । कमेरों के वर्ग में भारत की गरीब मेहनतकश जनता है । शिक्षा का अभाव , अंधविश्वास और शोषण के कारण वह बदहाल है । लुटेरों के वर्ग में महंत, मठाधीश , पंडे , पुरोहित , राजा-महाराजा, जमींदार , ताल्लुकेदार और ब्रिटिश ~~कौम~~ नौकर-शाह है जो खुशहाल है । "गोदान" का बीज हमें यहाँ मिलता है ।

इस उपन्यास का एक पात्र कहता है :" महंतों के हथकंडों की चर्चा अगर मैं बहुत थोड़े में करूँ तो पोथे का पोथा हो जाय और यह कुछ महंतों की ही बात नहीं है । जो लोग मुक्ति की चर्चीतियाँ करेंगे, दूसरे के सिर पर फुलौड़ियाँ खायेंगे , वे आखिरकार ऐशपसंद और आरामतलब हो जायेंगे । जिन दिनों इंगलिस्तान की सभ्यता और संस्कृति इस शिखर पर न पहुँची थी , वहाँ पर यह रस्म थी कि धार्मिक झंझट करने वाले , पादरियों के खिलाफ मुनादी के लिए , अयोग्य समझे जाते थे । पादरी लोग कैसे ही संगीन जुर्म करें , बड़े-से-बड़ा गुनाह कर डालें मगर गवर्नमेण्ट कुछ पूछताछ न करती थी । इन पादरियों के मामलों का फैसला पोप के दरबार से होता था ।" 36

आगे चलकर यही पात्र इस संदर्भ में कहता है :" एक इतिहासकार लिखता है कि जिस दिन यह अधिकार पादरियों के हाथ से निकला उसी दिन इंगलिस्तान के उस सांस्कृतिक भवन की नींव पड़ी जिसे आजकल की दुनिया में अभिमान की दृष्टि से देखा जाता है ।" 37

इससे यह साफ जाहिर होता है कि अन्याय , अधर्म , शोषण और सामाजिक असमानता पर आधृत धर्म के निंदक प्रेमचन्द ~~अपने~~ अपने लेखन के प्रारंभकाल से ही रहे हैं । प्रगतिवादी चिंतन के बीज उनमें शुरू से ही दृष्टिगत होने लगते हैं ।

प्रेमा :

यह भी उनका मूलतः उर्दू उपन्यास ही है । उसका उर्दू नाम है — " हमसुयाँ व हमसवाब " । सन् 1906 में वह प्रकाशित हुआ था । सन् 1907 में यही उपन्यास "प्रेमा" नाम से हिन्दी में प्रकाशित हुआ था । "प्रतिज्ञा" उसका ही संस्कारित एवं परिवर्द्धित रूप है , जो सन् 1927 में प्रकाशित हुआ था । इसमें प्रत्यक्षतया अछूत समस्या की कोई बात नहीं है , किन्तु परोक्ष रूप में लेखक ने यह व्यंजित किया है , तथाकथित छोटी जातियों , नीची जातियों या दलित जातियों में नारियों का उस रूप में शोषण नहीं होता जिस रूप में ऊंची जातियों में होता रहा है । उपन्यास की समस्या है , विधवा-विवाह की समस्या , जो सवर्ण हिन्दुओं की समस्या है । अछूत जातियों की यह समस्या ही नहीं है । अछूत जातियों में तो विधवा-विवाह होते ही हैं । इस मामले में वे तथाकथित ऊंची जातियों से आगे हैं । सच पूछा जाय तो दलित जातियों में घर-परिवार-समाज में स्त्रियों को बराबरी का दर्जा पहले से मिला हुआ है , क्योंकि आर्थिक दृष्टि से वह बराबर सक्रिय होती है । जो बातें उच्च समाज में अब आ रही है , वे दलित जातियों में पहले से विद्यमान थीं । दलित जातियों में स्त्रियों का शोषण उनके अपने समाज द्वारा कम , ऊंची जातियों द्वारा अधिक होता है । प्रस्तुत उपन्यास का नायक अमृतराय युवा विधवा ब्राह्मणी पूर्णा से प्रेम करता है , पूर्णा भी उसे चाहती है , लेकिन हिन्दू समाज से विद्रोह करके विवाह करने का साहस वह जुटा नहीं पाती । एक स्थान पर वह बिल्लो कहारिन से कहती है — " मगर क्या , भलेमानुसों में ऐसा कभी होता ही नहीं । हां , नीच जातियों में सगाई , [illegible] होना सबकुछ आता है । " 38

यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि अपने संचित संस्कारों के कारण पूर्णा में हिचकिचाहट है, किन्तु उसका मन वह सब चाह रहा है, जो नीची जातियों में होता है। यहाँ परोक्ष रूप से यह तथ्य आया है कि नारी के संदर्भ में छोटी जातियाँ अधिक न्याय-संगत और व्यावहारिक हैं। यही उनकी शक्ति है। यह अकारण नहीं है कि छोटी जातियों में शक्ति की ही अधिक पूजा होती है।

वरदान :
=======

यह उपन्यास भी पहले उर्दू में "जलवा-ए-ईसार" नाम से सन् 1912 में प्रकाशित हो चुका था, बाद में सन् 1921 में "वरदान" नाम से हिन्दी में प्रकाशित हुआ। उसका नायक प्रतापचन्द्र विरजन से प्रेम करता है। किन्तु विरजन का विवाह कमलाचरण से हो जाता है जो आवारा और चरित्रहीन है। अतः अनमेल विवाह की समस्या है। किन्तु अतफल प्रेम के कारण प्रताप जब बालाजी बन जाता है, तब वह भारतसभा की स्थापना करता है और राष्ट्रसेवा में जुट जाता है।

ठीक इसी बिन्दु से उपन्यास दलित-विमर्श से संदर्भित होता है। जिन लोगों की परछाइयों से भी उच्चवर्गीय हिन्दू भागता है, उन्हीं अहीरों और पासी जैसी अछूत जातियों के साथ टूटी खाट पर घण्टों बैठकर बालाजी बातें करते हैं। पिछड़ी और अछूत जातियों की सेवा बालाजी की राष्ट्रसेवा का प्रमुख अंग है। इसी कारण काशी के धर्म-धुरंधर बालाजी के अनुयायियों को "शूद्र" कहकर पुकारते हैं। वे बालाजी से शास्त्रार्थ करने शास्त्र और गुण्डे लेकर आते हैं। शास्त्रार्थ में शास्त्रों की आवश्यकता तो समझ में आती है, पर गुण्डों की क्या जरूरत थी? इससे साफ जाहिर होता है कि ये लोग कितने गिरे हुए हैं और अपनी मनमानी के लिए किसी भी सीमा तक जा सकते हैं। शास्त्र से न होगा तो शस्त्र से करेंगे।

बालाजी अहीर और पिछड़ी जातियों के बीच काम करते हैं। इससे उनमें एक नयी चेतना जगती है। नतीजतन इन तबकों में जहां उनकी सराहना होती है, वहां उच्चवर्गीय तबके में उनकी भर्त्सना भी होती है। बालाजी विरजन के गांव आने वाले हैं। तब विरजन के घर की औरतें मिलती हैं उनका वार्तालाप इस परिप्रेक्ष्य में गौरतलब होगा —

" सेवती — पटना के पासियों ने एक ठाकुरद्वारा बनवाया है। वहां की आरतसभा ने बड़ी धूमधाम से उत्सव किया।

विरजन — पटना के लोग बड़े उत्साह से कार्य कर रहे हैं।

चन्द्रकुंवर — गड़रिया भी अब सिंदूर लगायेंगी। पासी लोग ठाकुरद्वारे बनवायेंगे ?

रुक्मिणी — क्यों, वे मनुष्य नहीं हैं ? ईश्वर ने उन्हें नहीं बनाया ? आप ही अपने स्वामी की पूजा करना जानती हैं ?

चन्द्रकुंवर — चलो, हटो, मुझे पासियों से मिलाती हो। यह मुझे अच्छा नहीं लगता।

रुक्मिणी — हां, तुम्हारा रंग गोरा है न ? और वस्त्र-आभूषणों से सजी हुई हो। बस इतना ही अंतर है कि और कुछ ?

चन्द्रकुंवर — इतना ही अंतर क्यों है ? पृथ्वी को आकाश से मिलाती हो ?

रुक्मिणी — हां, जानती हूं, और नहीं जानती थी तो अब जान गयी। तुम्हारे ठाकुरसाहब (पति) किसी पासी से बढ़कर मल्लयुद्ध करेंगे ? या सिर पर टेढ़ी पाग रखना जानते हैं ? मैं जानती हूं कि कोई छोटा-सा पासी भी उन्हें कांख-तले दबा लेगा। " 39

उपर्युक्त कथोपकथन दलितों में उठ रही चेतना को रेखांकित करते ही है, साथ ही प्रेमचन्द की वस्तुनिष्ठ यथार्थधर्मी चेतना

यह भी बराबर संकेतित कर रही है कि रुक्मिणी के संवादों में जहां तार्किकता, न्याय और मूर्तता है ; वहां चन्द्रकुंवर के संवाद पुराने संस्कारों , अतार्किकता और अमूर्तता से भरे हुए हैं । रुक्मिणी का यह कहना कि " क्या वे मनुष्य नहीं हैं ? " , उसका चन्द्रकुंवर के पास कोई तार्किक उत्तर नहीं है , अतः वह गाली-गलौज की भाषा पर उतर आती है । उच्चवर्गीय पुरुष जहां गुण्डई का सहारा लेते हैं , उच्चवर्गीय स्त्रियां गालियों का सहारा लेती हैं ।

सेवासदन :

"सेवासदन" उपन्यास "बाजारे हुस्न " के नाम से उर्दू में लिखा पहले गया , लेकिन उसका प्रकाशन "सेवासदन" के रूप में पहले हिन्दी में हुआ । इसी सबब इसे प्रेमचन्द का प्रथम हिन्दी उपन्यास माना जाता है । हिन्दू समाज में वेश्या की स्थिति अछूतों से भिन्न नहीं है । सुमन की बहन शान्ता का विवाह है । परन्तु वर के पिता को जब इस बात का इल्म होता है कि वधू की बहन सुमन वेश्या है , तब वे बारात वापिस लौटा जाते हैं । हिन्दू समाज मल्लाहों को अछूत मानता है , परन्तु वेश्याओं के प्रति उनका रवैया भी सवर्ण हिन्दू समाज जैसा ही है । मल्लाहों को जब जीतन कहार से यह पता चलता है कि सुमन कभी वेश्या रह चुकी है , तब वे सुमन का आश्रय देने वाले सदन और शान्ता को भी अछूत मानने लगते हैं । यथा — " अरे ! यह तो कस्बीन है , सदन ने घर से निकाल दिया तो चौक में हरजाईपन करने लगी , अब देखता हूं तो यहां विराजमान है । चौधरी सन्नाटे में आ गया , मल्लाहिनों में भी इशारेबाजियां होने लगीं । इस दिन से कोई मल्लाह सदन के घर का पानी न पीता , उनकी स्त्रियोंने सुमन के पास आना-जाना छोड़ दिया ।" [40]

परन्तु प्रत्यक्षतः दलितों का संदर्भ भी उपन्यास में कहीं-न-कहीं

तो आता ही है । उपन्यास का एक पात्र अबुलवफा हिन्दुओं की अछूत-नीति के संदर्भ में निम्नलिखित ढंग से सोचता है ::

" बिरादराने वतन (हिन्दू) को देखिए, वह डोमड़ों तक को मिलाने की कोशिश करते हैं । उनके साथ से परहेज करते हैं, उन्हें जानवरों से भी ज्यादा जलील समझते हैं, मगर महज अपने पोलिटिकल मकाद के लिए उन्हें अपने कौमी जिस्म का एक अजो बनाए हुए हैं । डोमड़ों का शुमार जरायम पेशा अकवाम में है । अफिंगाजा, पासी, भर वगैरह भी इसी जैल में आते हैं । सरजा, करन, राजभरी, यह उनके पेशे हैं । मगर जब उन्हें हिन्दू जमाअत से अलहदा करने की कोशिश की जाती है तो बिरादराने वतन कैसे बिरादराना होते हैं । वेद और शास्तर की सनदें नकल करते हैं× निकलते हैं । हमको इस मुआमले में उन्हीं से सबक लेना चाहिए ।" 41

हालांकि अबुलवफा यह बात दूसरे संदर्भ में कर रहा है । मुसलमान वेश्याओं को अपने पक्ष में मिलाने की उसकी कोशिश है । परन्तु फिर भी हिन्दुओं की अछूत-नीति पर उसने जो फब्तियाँ कसी हैं, क्या उसमें वजूद नहीं है ? आजादी के इतने वर्षों बाद भी उसका उपयोग महज एक "वोट-बैंक" के रूप में क्या नहीं हो रहा ? आरक्षण-विरोधी आंदोलन के साथ सबका क्या रवैया रहा है ? लगता है, अस्पृश्यता अब शारीरिक से ज्यादा मानसिक हो गई है ।

कुंवरसाहब इस उपन्यास के एक रोमानिसमाज व्यक्ति हैं । एक स्थान पर वह कहते हैं — " हम रात-दिन जो रिश्वतें लेते हैं, सूद खाते हैं, दीनों का रक्त चूसते हैं, असहायों का गला काटते हैं, यद्यपि इस योग्य नहीं हैं कि समाज के किसी अंग को

नीच या तुच्छ समझें । सबसे नीच हम हैं, सबसे पापी, दुराचारी, अन्यायी हम हैं, जो अपने को शिक्षित, सभ्य, उदार, सच्चा समझते हैं ।" 42

इस संदर्भ में डा. कांतिमोहन के विचार ध्यातव्य रहेंगे — "चार करोड़ अछूतों से अमानवीय व्यवहार करने वाले सवर्ण भारतीय अंग्रेजों से स्वराज्य की मांग कैसे कर सकते हैं ? सभ्य संसार के सामने भारतीय समाज के इस कोढ़ की नुमाइश करते हुए अंग्रेज और अन्य साम्राज्यवादी तत्व भी यह साबित करने की जोड़-तोड़ में लगे थे कि वे लोग समानता और स्वतंत्रता का दावा कैसे कर सकते हैं जो अपने ही देशवासियों के एक बड़े हिस्से को ये अधिकार देने के लिए तैयार नहीं ।" 43

यहां इस बात को गौरतलब किया जाय कि गांधीजी को इस बात का ज्ञान प्रिटोरिया वाली घटना के बाद ही हुआ था । अंग्रेज हज्जाम ने जब उनके बाल नहीं काटे तब उनको अपने यहां के अछूतों का ख्याल आया था ।

प्रेमाश्रम :

यह उपन्यास भी पहले उर्दू में ही लिखा गया था, किन्तु प्रकाशित हिन्दी में हुआ । इसका लेखनकाल सन् 1918-1920 का है । प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हो चुका था । अक्तूबर क्रांति के बाद विश्व के प्रथम समाजवादी देश के रूप में सोवियेट संघ अस्तित्व में आ चुका था । इस पृष्ठभूमि के साथ इस उपन्यास को देखना होगा ।

डा. कांतिमोहन ने एक स्थान पर कहा है —" प्रेमचन्द के लेखन में अछूत समस्या गरीबी और शोषण से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है । ग्रामीण समाज में उन्हें अछूत समस्या का जो पक्ष सबसे अधिक आकृष्ट करता है, वह बेगार से सम्बन्धित रखता है । इस

प्रथा का , कहीं से कहीं तक , उन्हें कोई औचित्य नजर नहीं आता और वह अपनी पूरी शक्ति से इसका विरोध करते हैं । " 44

"प्रेमाश्रम" से इसी बेगार की समस्या को प्रेमचन्दजी ने कई कोणों से उकेरा है । "प्रेमाश्रम" में चित्रित लखनपुर गाँव में सवर्ण जातियों के अलावा चमार , कहार , अहीर , कुरमी आदि निम्न जाति के लोग हैं । परन्तु बेगार अक्सर चमारों से ही करवायी जाती है । लखनपुर में बेगार के लिए जब चमारों की कमी पड़ जाती है , तब अन्य जाति के लोगों से भी यह काम लिया जाता है । दुखरन भगत को इसी बात का दुःख है कि उससे अब चमारों वाला काम करवाया जाता है । यथा- " चपरासियों ने पहले दुखरन भगत को पकड़ा । भगत ने चौंककर कहा — " क्यों भाई क्या काम है ? " चपरासी ने कहा — चलो लश्कर में घास छीलनी है । भगत- घास चमार छीलते हैं , हमारा काम नहीं है ।" 45 घास छीलने के बाद टेनिस कोर्ट को गोबर से लीपने का काम उसे सौंपा जाता है । दुखरन उसके लिए साफ मना कर देता है । चपरासी के जूते खा लेता है , पर गोबर नहीं लीपता , क्योंकि वह चमारों का काम है । घर जाकर वह अपने अपमान का बदला ईश्वर से लेता है और शालिग्राम की पिंडी को कूड़े के ढेर पर फेंक देता है । इसमें भगत की समझ शायद यही है कि चमारों वाला काम करके अब पंडितों वाला काम कैसे करें । दुखरन शालिग्राम की पूजा करके शायद पंडित होना चाहता है , पर तहसीलदार के आदमियों ने उसे उसकी जगह बता दी । इस बात का उसे अफसोस है ।

काश्तकारों में मनोहर कुछ विद्रोही प्रकृति का है , किन्तु उसको भी बेगार करनी पड़ती है । इस अवसर पर मौरूसी काश्तकार होने के बावजूद उससे बेगार करवायी जाती है , इस बात का उसे इतना अफसोस नहीं है , जितना इस बात का कि

अब उससे चमारोंवाला काम लिया जा रहा है । [46]

और तो और प्रेमशंकर जो नये विचारों का माना जाता है, वह भी बेगार का विरोध मानव-अधिकारों के तहत न करके जातिवाद के आधार पर करता है । हुक्कन वाले मामले में वह तहसीलदार से कहता है — " आपको मालूम नहीं था कि वह ऊँची जाति का काश्तकार है ? जमीन लीपना या कूड़ा फेंकना इसका काम नहीं है । " तब तहसीलदार कहता है कि जूते की मार सबकुछ करा लेती है ।[47]

प्रेमशंकर के हस्तक्षेप के कारण चमारों में भी कुछ हिम्मत आती है और वे अपनी मजदूरी माँगने की जुर्रत कर बैठते हैं :

" एक चमार बोला — दिन भर घास छीला, अब कोई पैसे ही नहीं देता । घण्टों से खड़े चिल्ला रहे हैं ।

तहसीलदार ने क्रोधोन्मत्त होकर कहा — आप (प्रेमशंकर) यहाँ से चले जायें, वर्ना आपके हक में अच्छा न होगा । नाजिरजी, आप मुँह क्या देख रहे हैं ? चपरासियों से कहिए, इन चमारों की अच्छी तरह खबर लें । यही इनकी मजदूरी है ।

चपरासियों ने बेगारों को घेरना शुरू किया । कांस्टेबलों ने भी बंदूकों के कुंदे चलाने शुरू किये । कई आदमियों को चोट आ गयी । " [48]

जमींदार, तहसीलदार और सरकारी अमले गरीब निम्न जाति के लोगों के साथ कैसा अमानवीय अत्याचार करते हैं, उसका पता हमें विद्यावती और गायत्री के बीच के वार्तालाप से होता है । गायत्री कहती है : " तुम बाबूजी पर अन्याय करती हो । उनका कोई कसूर नहीं । आखिर रुपये कैसे वसूल होते ? निर्दयता अच्छी बात नहीं, किन्तु जब इसके बिना काम ही न चले तो क्या किया जाय ? तुम्हारे जीजा कैसे सज्जन थे, द्वार पर से किसी भिक्षुक को निराश

न लौटने देते । तत्कार्यों में हजारों रुपये खर्च कर डालते थे । लेकिन उन्हें भी असामियों पर सख्ती करनी पड़ती थी । मैंने स्वयं उन्हें असामियों की मुश्कें कसते पिटवाते देखा है । जब कोई उपाय न सूझता तो उनके घरों में आग लगवा देते थे और मुझे भी वही करना पड़ता है । उस समय मैं समझती थी कि यह व्यर्थ अपना जुल्म करते हैं । उन्हें समझाया करती थी , पर जब अपने माथे पर पड़ गयी तो अनुभव हुआ कि यह नीच बिना मार खाये रुपये नहीं देते । रुपये रखे रहते हैं , देने का नाम नहीं लेते । यह उनकी आदत है । " 49

दलित-समस्या का एक पहलू बलराज के चरित्र में मिलता है । बलराज एक आधुनिक चेतनासम्पन्न युवक है । उस की क्रांति से वह प्रभावित है । वह लोगों को कहता फिरता है कि एक दिन मजदूरों और किसानों का राज आने वाला है । वह अखबारों को भी पढ़ता है । अपने हमजोली रंगी चमार के प्रति उसका व्यवहार मानवतापूर्ण रहता है । जब बिलासी बलराज को दूध देती है और रंगी को नहीं देती , तब वह बुरी तरह से बिगड़ता है और दूधका कटोरा फेंक देता है । वह बिलासी से कहता है :

" बिलासी — यह किस बात पर कटोरे को पटक दिया ?

" बलराज — इसलिए कि जो हमसे अधिक काम करता है उसे हमसे अधिक खाना चाहिए । हमने तुमसे बार-बार कह दिया है कि रसोई में जो कुछ थोड़ा-बहुत हो , वह सबके सामने आना चाहिए । अच्छा खायें तो सब खायें , बुरा खायें तो सब खायें , लेकिन तुम्हें न जाने क्यों यह बात भूल जाती है ? ... रंगी कोई बेगार का आदमी नहीं है । वह मुंह से चाहे न कहे , पर मन में अवश्य कहता होगा कि छाती फाड़कर काम मैं करूं और मूंछों पर ताव देकर खायें ये लोग । ऐसा दूध-घी खाने पर लानत है ।

" रंगी ने कहा — भैया , नित तो दूध लाता हूँ , एक दिन न सही । तुम हकनाहक इतने खफा हो गए !" 50

यहाँ एक बात स्पष्ट हो जाती है कि भिक्षुक को द्वार से खाली हाथ न लौटाना या धार्मिक समारोहों पर हजारों फूंक देना या चींटियों के बिलों पर आटा बुरकते रहना ही धर्म नहीं है । धर्म धर्म तो समतामूलक-न्यायमूलक सोच और तदनुरूप व्यवहार में होता है । "कबिरा सोई पीर है , जो जाने परपीर " के तत्व को समझ लेना ही धर्म है ।

रंगभूमि :

प्रस्तुत उपन्यास का प्रकाशन पहले हिन्दी में हुआ , किन्तु वह सन् 1922-24 में पहले उर्दू में लिखा गया था । 1919-22 के दरमियान के राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम की दृष्टि से भी इस उपन्यास का महत्व है , किन्तु यहाँ हमारा उपक्रम दलित-विमर्श के संदर्भ में उसे मूल्यांकित करने का है ।

"रंगभूमि" उपन्यास का नायक सूरदास एक चमार है । किन्तु वह गांव के बाहर झोंपड़े में ग्राम्य-जीवन की मुख्य धारा से अलग-थलग पड़ा रहने वाला औसत भूमिहीन चमार नहीं , प्रत्युत एक ऐसा चमार है , जिसके पास पांडेपुर गांव में अपना एक पुश्तैनी भूखंड है । वह अंधा है । वाहे तो उस भूखंड को बेचकर आराम से रह सकता है । परन्तु भिक्षा मांगकर वह अपना तथा एक अनाथ बच्चे का पालन-पोषण करता है । वह भूमि गांववालों के काम में आती थी ।

सन् 1920 के दशक के भारतीय समाज को देखते हुए इसमें निर्लजित पांडेपुर गांव और सूरदास के साथ रहने वाले लोगों को देखते हुए कुछ अजीब-सा लगता है । अछूतों के मंदिर प्रवेश का मामला आंदोलनों के प्रस्तावों तक महदूद था । देश के कुछ हिस्सों में

समाजसुधारकों के प्रयत्नों से अछूतों के लिए कहीं-कहीं अलग मंदिर बनने लगे थे, किन्तु पांडेपुर का यह मंदिर वैसा नहीं है। यहां तो बनारस के पंडा नायकराम से लेकर भैरों पासी, बजरंगी अहीर, तंबोली ठाकुरदीन तथा सूरदास चमार एक संगत में बैठकर भजन करते हैं। जातिगत विद्वेष और ऊंच-नीच का भाव होते हुए भी उनमें छूत-छात का भाव नहीं है। काशी के ही बगल में इस प्रकार का गांव और मंदिर बताकर कहीं लेखक धर्म के मठाधीशों पर आघात तो नहीं कर रहा है?

किन्तु लेखक की वस्तुनिष्ठ दृष्टि यहां भी यह निरूपित करना नहीं चूकती कि ऊंच-नीच पर आधारित जातिगत-चेतना के संस्कार इन पात्रों में भी कहीं-न-कहीं विद्यमान हैं। भैरों पासी सूरदास के भतीजे मिठुआ को पीट देता है। सूरदास जब भैरों से शिकायत करता है कि उसे तो दूसरे बच्चे भी चिढ़ाते हैं। तब भैरों कहता है: "दूसरे लड़कों और उसकी बराबरी है? दरोगाजी की गालियां खाते हैं तो क्या डोमड़ों की गालियां भी खाएं? अभी तक तो दो ही तमाचे लगाए हैं, फिर चिढ़ाए तो उठाकर पटक दूंगा, मरे या जिए।" 51 भैरों के इस जवाब में उसके संस्कार ही बोलते हैं। भैरों के त्रास के कारण उसकी पत्नी सुभागी जब सूरदास के आश्रय में रहने लगती है, तब भैरों यह समझता है कि सूरे ने उसे अपने घर में डाल लिया है, जबकि सूरदास तो सुभागी को अपनी बहन मानता है। उस समय भी भैरों की जो प्रतिक्रिया है वह उसके जातिगत संस्कारों को उजागर करती है: "अब उस चुड़ैल को घर न रखूंगा। चमार के हाथों यह बेआबरूई। ... मुझे सबसे बड़ा मलाल तो यह है कि अभागिन गई भी तो चमार के साथ गयी। अगर किसी ऐसे आदमी के साथ जाती, जो जात-पांत में, देखने-सुनने में, धन-दौलत में मुझसे बढ़कर

होता तो मुझे इतना रंज न होता ।" [52]

यद्यपि नायकराम राजासाहब के कहने पर सूरदास को गोद में उठाकर फिटन पर बिठाता है, मंदिर में साथ बैठकर भजन भी गाता है, तथापि जातिगत संस्कारों से वह भी मुक्त नहीं है । प्रभुसेवक जब नायकराम को पीट जाते हैं, तब वह सबके सामने उसे सबक सिखाने की घोषणा करता है । तब सूरदास उसे समझाता है : " सूरदास — बैर बढ़ाने से कुछ फायदा न होगा । तुम्हारा तो कुछ न बिगड़ेगा, लेकिन दुहल्ले के सब आदमी बँध जायेंगे । ... नायकराम — कैसी पागलों की-सी बातें करते हो । मैं कोई धुनिया-चमार हूँ कि इतनी बेइज्जती कराके चुप हो जाऊँ । " [53] यहाँ अपनी धुनकी में नायकराम यह भी भूल जाता है कि जिसे वह यह बात कह रहा है वह खुद चमार है और उसे बुरा भी लग सकता है । ठीक इसी प्रकार की घटना जगदीश-चन्द्र के उपन्यास "धरती धन न अपना " में भी मिलती है, जब छज्जू शाह काली से कहते हैं कि चौधरी लोग खर्च नहीं करेंगे तो क्या कुम्हार-चमार करेंगे ? [54] यहाँ काली भी चमार है ।

जब ताहिरअली को हिरासत में ले लिया जाता है, तब उसका भाई माहिरअली किनारा कर जाता है । ताहिरअली के दूसरे कुलीन दोस्त भी उधर नहीं फटकते कि कहीं उसके परिवार वाले कुछ माँग न बैठे । तब चमारों के चौधरी अपने जाति-भाइयों को समझाता है कि उनके मुंशीजी की हालत तंग है और ऐसी स्थिति में उनको उनकी मदद करनी चाहिए । वे लोग रुपये इकट्ठे करके ताहिर-अली की पत्नी कुल्सुम को देने भी जाते हैं, पर वह इन्कार कर देती है । इस प्रसंग के द्वारा प्रेमचन्द यह दिखाना चाहते हैं

कि जिन लोगों को हमारा समाज अछूत, नीच और कमीन समझता है वे उन तथाकथित भद्र वर्ग के लोगों की तुलना में कितने ऊपर उठे हुए हैं। यह मानवीय संस्पर्श प्रेमचन्द की अपनी विशेषता है जिसके कायल अज्ञेयजी भी हैं जिसका जिक्र पूर्ववर्ती पृष्ठों में एकाधिक बार कर चुके हैं।

प्रस्तुत उपन्यास में डा. गांगुली, विनय या कहीं भी अछूतोद्धार के संदर्भ में कोई बात, कोई वक्तृत्वता, कोई आंदोलन, कोई व्याख्यान नहीं है; किन्तु यहां दलित-विमर्श एक दूसरे ढंग से आया है और शायद बड़े प्रभावशाली ढंग से। इसमें सूरदास के चरित्र का देवोपम विकास बताकर लेखक ने दलित-विमर्श को एक नया आयाम दिया है। यह विकास क्रमशः शनैः शनैः हुआ है। उपन्यास के अंत भाग में लेखक सूरदास के चरित्र को विशेषित करते हुए कहते हैं:

" हां, वह साधु न था, महात्मा न था, देवता न था, फरिश्ता न था; एक क्षुद्र, शक्तिहीन प्राणी था, चिन्ताओं और बाधाओं से घिरा हुआ, जिसमें अवगुण भी थे, और गुण भी। गुण कम थे, अवगुण बहुत। क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ये सभी दुर्गुण उसके चरित्र में भरे हुए थे, गुण केवल एक था। किन्तु ये सभी दुर्गुण उस एक गुण के संपर्क से देवगुणों का रूप धारण कर लेते थे — क्रोध सत्क्रोध हो जाता था, लोभ सद्अनुराग, मोह सदुत्साह के रूप में प्रकट होता था, और अहंकार आत्माभिमान के वेश में। और वह गुण क्या था? ~~xxx~~ न्याय-प्रेम, सत्य-भक्ति, परोपकार, सर्द था उसका जो नाम चाहे रख लीजिए। अन्याय देखकर उससे न रहा जाता था, अनीति उसके लिए असह्य थी। " 55

डा. गांगुली सूरदास के संदर्भ में कहते हैं — " ऐसे प्राणियों का यथार्थ जीवन तो मृत्यु के पीछे ही होता है, जब वह पंचभूतों के

संस्कार से रहित हो जाता है । सूरदास अभी नहीं मरेगा , बहुत दिनों तक नहीं मरेगा । हम सब मर जायगा , कोई कल , कोई परसों ; पर सूरदास तो अमर हो गया , उसने तो काल को जीत लिया । अभी तक उसका जीवन पंचभूतों के संस्कार से सीमित था । अब वह प्रसारित होगा , समस्त प्रान्त को , समस्त देश को सान्त्वना प्रदान करेगा , हमें कर्मण्यता का , वीरता का आदर्श बतायेगा । यह सूरदास का मृत्यु नहीं है सोफी , यह उसके जीवन-ज्योति का विकास है । " 56

और सूरदास की मृत्यु का यह अंतिम दृश्य देखिए :
" खोल दो यह पट्टी , मैं देख चुका , अब मुझे मरहम पट्टी नहीं चाहिए । रानी कौन , विनयसिंह की माता न ? ... मुझे बैठा दो , उनके पैरों पर आँखें मलूंगा । मेरी आँखें खुल जायेंगी । मेरे सिर पर हाथ रखकर असीस दो माता , हाँ , अब मेरी जीत होगी । ... रानी जाह्नवी ने आगे बढ़कर , भक्ति-विह्वल दशा में , सूरदास के पैरों पर सिर रख दिया , और फूट-फूट कर रोने लगीं । सूरदास के पैर अश्रुजल से भीग गये । कुँअर साहब ने आँखों पर रूमाल डाल लिया , और खड़े-खड़े रोने लगे । " 57

सूरदास के अग्नि-संस्कार का यह दृश्य —" चंदन की चिता बनायी गयी थी , उस पर विजय-पताका लहरा रही थी । ... इसी स्थान पर कई दिन पहले यही शोक-दृश्य दिखायी दिया था । अंतर केवल इतना था कि उस दिन लोगों के हृदय शोक से व्यथित थे, आज विजय-गर्व से परिपूर्ण । वह एक वीरात्मा की वीर मृत्यु थी , यह एक खिलाड़ी की अंतिम लीला । एक बार फिर सूर्य की किरणें चिता पर पड़ीं , उनमें गर्व की आभा थी , मानो आकाश से विजय-गान के स्वर आ रहे हैं । " 58

श्मशान-भूमि से लौटते समय मि. क्लर्क अफ़सोस जाहिर करता है कि उनके हाथों ऐसे अच्छे आदमी की हत्या हुई। तब राजा महेन्द्रकुमार कहते हैं कि यह तो उनके लिए दुर्भाग्य नहीं सौभाग्य होना चाहिए। तब अंग्रेज सरकार का यह प्रतिनिधि मार्के की बात कहता है —

" नहीं राजा साहब, दुर्भाग्य ही है। हमें आप जैसे मनुष्यों से भय नहीं, भय ऐसे ही मनुष्यों से है, जो जनता के हृदय पर शासन करते हैं। यह राज्य करने का प्रायश्चित है कि इस देश में हम ऐसे आदमियों का वध करते हैं, जिन्हें इंग्लैंड में हम देव-तुल्य समझते हैं।" 59

छः महीनों के बाद सूरदास के झोंपड़े के पास पूना के प्रसिद्ध मूर्तिकार द्वारा गढ़ी गयी सूरदास की प्रतिमा को बड़े समारोह के साथ स्थापित किया गया। नगरवासी अपने-अपने काम छोड़कर इस उत्सव में सम्मिलित हुए थे। रानी जाह्नवी ने कलश कंठ और तजल नेत्रों से मूर्ति को प्रतिष्ठित किया। इसके बाद देर तक संकीर्तन होता रहा। फिर नेताओं के प्रभावशाली व्याख्यान हुए, पहलवानों ने अपने-अपने करतब दिखाये। संध्या-समय प्रीति-भोज हुआ, छूत और अछूत साथ बैठकर एक ही पंक्ति में खा रहे थे। यह सूरदास की सबसे बड़ी विजय थी।" 60

इस प्रकार एक अछूत चमार के पात्र को हाथ प्रतिष्ठित करके प्रेमचंदजी यह दिखाना चाहते हैं कि सत्कार्य के ऐसे स्मारक-स्तम्भ ही इस समस्या का उपाय है। अछूत-वर्ग के लोग राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन या ऐसे ही किसी महान राष्ट्रीय कार्य में सम्मिलित होकर मान्यता प्राप्त कर सकते हैं। राजपूती आन पर जान देने वाली रानी जाह्नवी का सूरदास के चरणों में आँसू बहाना और प्रीति-भोज में छूत-अछूत का एक पंगत में बैठकर खाना इसीका संकेत है।

कायाकल्प :

" कायाकल्प" का लेखन सन् 1924 में शुरू हुआ था । सन् 1922 में चौरीचौरा की घटना हो चुकी थी , प्रस्तुत उपन्यास में हम इस राजनीतिक घटना का औपन्यासिक रूप देख सकते हैं । यद्यपि प्रेमचन्द के समग्र औपन्यासिक लेखन में " कायाकल्प" थोड़ा अलग पड़ता है । रानी देवप्रिया और उसके पूर्वजन्मों की कथा किसी तिलस्मी कहानी से कम नहीं । प्रेमचन्द जैसे यथार्थवादी लेखक की कलम से ऐसा उपन्यास कैसे निःसृत हुआ होगा , यह एक आश्चर्य की बात है । किन्तु "कायाकल्प" का तत्कालीन आंदोलनों तथा राजनीतिक घटनाओं के आकलन वाला हिस्सा प्रेमचन्दीय कला एवं चिंतन के अनुरूप है ।

साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा समर्थित सामंतवाद के खिलाफ यहाँ चक्रधर है । "रंगभूमि" में सूरदास था , जो स्वयं चमार था । यहाँ चक्रधर है , जो खुद तो सवर्ण है , किन्तु उसके साथ इस संघर्ष में जो शामिल हैं उनमें सबसे बड़ी ताकत चमारों की है । बेगार की अमानवीय रूढ़ि के खिलाफ न्याय की मांग इसका अहम मुद्दा है । राजा बनने से पहले विशालसिंह स्वयं बेगार की प्रथा के विरोधी थे , परंतु राजा होते ही उनका"कायाकल्प" [9] हो जाता है, और वे भी अन्य सामंतों की तरह व्यवहार करने लगते हैं ।

विशालसिंह के दीवान तथा मुंशी भूखे चमारों पर हंटर बरसाते हैं । दहशत में आकर चमार बेगार के लिए चल भी पड़ते हैं , किन्तु जब वे चमारों के चौधरी पर भी हंटर बरसाते हैं , तब चमार बिल्कुल फिरण्ट हो जाते हैं और काम से इन्कार कर देते हैं । वे तरह-तरह की धमकियाँ देते हैं , पर उनपर किसी प्रकार का असर नहीं पड़ता । वे अपना गांव-वतन सबकुछ छोड़ने को तैयार हो जाते हैं । ठाकुर हरिसेवक कहते हैं —" खेत छीन जायेंगे । घर गिरा दिए जायेंगे । इस फेर में न रहना ।" [61] उसके उत्तर में एक चमार कहता है —" आपको अख्तियार है , जो चाहे करें ।

हमें अब इस राज्य में नहीं रहना है । कुछ हाथ-पांव थोड़े ही कटाये बैठे हैं । "62

राजा विशालसिंह के आने पर चमार अपने पक्ष में विचार करने के लिए उनसे प्रार्थना करते हैं । चमारों को मालूम था कि राजा साहब के विचार कुछ उदार थे, परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं था कि वे विशालसिंह सत्ता पाने के बाद, गद्दीनशीन होने के बाद बदल चुके हैं । प्रभुता पाकर उन्हें भी मद हो गया है । उनके भूखे रहने की शिकायत पर अब राजा साहब फरमाते हैं :

" हमेशा से लात खाते आये हो और वही तुम्हें अच्छा लगता है । मैंने तुम्हारे साथ भलमनसी का बर्ताव करना चाहा था ; लेकिन मालूम हो गया कि लातों के देवता बातों से नहीं मानते । तुम नीच हो और नीच लातों के बगैर सीधा नहीं होता । तुम्हारी यही मरजी है, तो यही सही ।

" चौधरी — जब लात खाते थे, तब खाते थे । अब न खायेंगे ।

" राजा — क्यों ? अब कौन सुरखाब के पर लग गये हैं ?

" चौधरी — वह समय ही लद गया । क्या अब हमारी पीठ पर कोई नहीं कि मार खाते रहें और मुंह न खोलें ? अब तो सेवा सम्मती हमारी पीठ पर है । क्या वह कुछ भी न्याय न करेगी ? हमारी राय से मेंबर चुने जाते हैं । क्या कोई हमारी फरियाद न सुनेगा ?

" राजा — अच्छा । तो तुझे सेवासमितिवालों का घमंड है ?

" हई चौधरी — हई है, वह हमारी रक्षा करती है, तो क्यों न उसका घमंड करें । "63

प्रजातांत्रिक ताकतों के कारण यहां दलितों में जो नयी चेतना जगी है, उसे परिलक्षित कर सकते हैं ।

गबन :

"गबन" दो भागों में विभाजित उपन्यास है । उसका प्रकाशन सन् 1931 से शुरू हुआ था । यह उन दिनों का उपन्यास है, जब राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन पूर जोश में चल रहा था । भारतीय मध्य-वर्ग के यथार्थ चित्रण के लिए यह उपन्यास सदैव याद किया जायगा । जहां तक दलित-विमर्श का संबंध है, उसका उपन्यास में प्रवेश उसके उत्तरार्द्ध से — दूसरे भाग से — शुरू होता है । रमानाथ गबन की फजीहत से बचने के लिए इलाहाबाद से भाग खड़ा होता है । रास्ते में उसकी मुलाकात देवीदीन खटिक से होती है । खटिकों के साथ भंगी-चमार जैसा व्यवहार भले न होता हो, उनका शुमार तो अछूत जातियों में ही होता है, जिसका जिक्र बाद में अनेक कथोपकथनों में मिलता है ।

रमानाथ बिना टिकट सफर कर रहा था । देवीदीन अपने पैसे देकर उसे अपमानजनक स्थिति से बचा लेता है । तब रमानाथ उसके बारे में सोचता है : " यह बूढ़ा कितना सरल, कितना परोपकारी, कितना निष्कपट जीव है ! जो लोग सभ्य कहलाते हैं, उनमें कितने आदमी ऐसे निकलेंगे, जो बिना जान-पहचान किसी प्राणी को उबार लें ?" [64]

रमानाथ देवीदीन के यहां कलकत्ता में रहने लगता है । उसने स्वयं को ब्राह्मण बताया है । अतः खटिक दंपति उसे बहुत सम्मान की दृष्टि से देखते हैं । देवीदीन की पत्नी जग्गो रमानाथ के भोजन के लिए एक ब्राह्मणी को ठीक करती है । तब रमानाथ आप ही कहता है —" जब तुम मेरी माता हो गयीं, तो फिर काहे का छूत-विचार ? मैं तुम्हारे हाथ का खाऊंगा ।" [65] इस पर बुढ़िया कहती है — अरे नहीं बेटा, मैं तुम्हारा धरम न लूंगी । कहां तुम ब्राह्मन और कहां हम खटिक । ऐसा कहीं हुआ है ? तब रमानाथ कहता है —" मैं तो तुम्हारी रसोई में खाऊंगा । जब मां-बाप खटिक हैं, तो बेटा भी

खटिक है । जिसकी आस्था बड़ी हो , वही ब्राह्मण है ।" [66]

ठीक उसी प्रकार जालपा रमानाथ को ढूंढते हुए जब कलकत्ता आती है और देवीदीन खटिक के यहां रहती है , तब जालपा और रमानाथ के छोटे भाई गोपी के बीच जो वार्तालाप बताया है , उसमें भी जाति-भेद से उबरने की बात कही गई है :

" दोनों नीचे चले गए तो गोपी ने आकर कहा -- भैया इनी खटिक के यहां रहते थे क्या ? खटिक ही तो मालूम होते हैं ।

जालपा ने फटकार कर कहा -- खटिक हों या चमार हों ; लेकिन हमसे और तुमसे तो भले अच्छे हैं । एक परदेसी पर-देशी आदमी को छः महीने तक अपने घर में ठहराया , खिलाया-पिलाया । हममें है इतनी हिम्मत ? यहां तो कोई मेहमान आ जाता है तो वह भारी हो जाता है । अगर यह नीच हैं तो हम इनसे कहीं नीच हैं ।

" गोपी मुंह हाथ धो चुका था । मिठाई खाता हुआ बोला -- किसीको ठहरा लेने से कोई ऊंचा नहीं हो जाता । चमार कितना दान-पुण्य करें , पर रहेगा तो चमार ही ।

जालपा -- मैं उस चमार को उस पंडित से अच्छा समझूंगी जो हमेशा दूसरों का धन खाया करता है । " [67]

यहां एक बात और ध्यातव्य है । इस नगरीकरण और औद्योगीकरण ने भी छुत-छात की भावना को थोड़ा-बहुत दूर किया है । रमानाथ जालपा के विचारों में जो परिवर्तन दृष्टिगत होता है , उसके पीछे एक कारण देवीदीन की उन्नत आर्थिक स्थिति भी है । देवीदीन मूलतः बिहार का है , पर पिछले चालीस साल से वह कलकत्ते में रह रहा है और उसकी साग-भाजी की दुकान है । [68] राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन से जुड़ा हुआ है । दो बेटे उसीमें शहीद हो गए हैं ।

अभिप्राय यह कि जब व्यक्ति बड़े महत व्यापक कार्यों में जुटता है, तो जातिगत भावना दूर होने लगती है ।

कर्मभूमि :

यह उपन्यास अगस्त सन् 1932 में प्रकाशित हुआ था । समूचे देश में महात्मा गांधी और कांग्रेस के आह्वान पर असहयोग आंदोलन चल रहा था । कराची के अधिवेशन में कांग्रेस ने प्रथम बार किसानों और मजदूरों की मांगों को अपने कार्यक्रम में शामिल करके उसे एक व्यापक जनाधार प्रदान करने का प्रयास किया था । सन् 1931 की गोलमेज परिषद असफल रही थी । ब्रिटिश सरकार की नीयत कोई सम्मानजनक समझौते पर पहुंचने की नहीं थी, बल्कि विभिन्न समुदायों के लोगों को लड़ाकर विश्व के लोगों के सामने यह घोषित करना चाहती है कि ये लोग लोकतंत्र के योग्य नहीं है । डा. बाबा साहब अंबेडकर दलितों के लिए अलग मताधिकार की बात पर अड़े हुए थे । तब यरवदा जेल में गांधीजी आमरण अनशन शुरू कर देते हैं । अंततोगत्वा सन् 1932 में पूना करार होता है । यह उस दौर का उपन्यास है ।

प्रस्तुत उपन्यास के संदर्भ में डा. कांतिमोहन लिखते हैं : " "कर्मभूमि" प्रेमचन्द का एकमात्र ऐसा उपन्यास है जिसमें हमें अछूत-जीवन के व्यापक चित्र मिलते हैं । इन चित्रों से अछूत समस्या के विभिन्न पहलुओं पर रोशनी पड़ती है और इस प्रश्न पर प्रेमचन्द के चिंतन के विभिन्न आयाम भी उभरकर सामने आते हैं । "ठाकुर का कुआं" शीर्षक कहानी की कहानियों की भांति ही अछूत समस्या और प्रेमचन्द के अध्ययन में "कर्मभूमि" का भी विशेष महत्व है । "कर्मभूमि" कई तरह से प्रेमचन्द का एक निराला उपन्यास है । " 69

उपन्यास के प्रारंभ में उसके नायक अमर की कतिपय चारित्रिक विशेषताओं को उकेरना का यत्न किया गया, जिसका सीधा संबंध दलित-विमर्श से न होते हुए भी, वहाँ उसके योग्य भूमिका का निर्माण किया गया है। अमर के धर्म-विषयक विचार इस दृष्टि से ध्यातव्य रहेंगे —

" वह [अमर] धर्म के पीछे लाठी लेकर दौड़ने लगा। धन के बंधन का उसे बचपन ही से अनुभव होता आया था। धर्म का बंधन उससे कहीं कठोर, कहीं असह्य, कहीं निरर्थक था। धर्म का काम संसार में मेल और एकता पैदा करना होना चाहिए। यहाँ धर्म ने विभिन्नता और द्वेष पैदा कर दिया है। क्यों खानपान में, रस्म-रिवाज में धर्म अपनी टाँगें अड़ाता है। मैं चोरी करूँ, खून करूँ, धोखा दूँ, धर्म मुझे अलग नहीं कर सकता। अछूत के हाथ से पानी पी लूँ, धर्म छू-मन्तर हो गया। अच्छा धर्म है! हम धर्म के बाहर किसीसे आत्मा का संबंध भी नहीं कर सकते। आत्मा को भी धर्म ने बांध रखा है, प्रेम को भी जकड़ रखा है। यह धर्म नहीं, धर्म का कलंक है। " 70

सम्पूर्ण हिन्दू समाज से विद्रोह करके सकीना से विवाह करने में असमर्थ अमर काशी से भाग खड़ा होता है और उत्तर की पर्वत श्रेणियों के बीच किसी सुंदर पहाड़ी गांव में वह पहुंच जाता है। किसी बुढ़ा से वह बात करता है तो वह कहती है कि उस गांव में तो सब "रैदास" बसते हैं। अमर दृढ़ता के साथ कहता है — " मैं जात-पांत नहीं मानता, माताजी। जो सच्चा है, वह चमार भी हो तो आदर के योग्य है, जो दगाबाज, झूठा, लंपट हो, वह ब्राह्मण भी हो तो आदर के योग्य नहीं। " 71

अमर उस गाँव में रह जाता है और दलित जातियों में सेवा-कार्य, शिक्षा का प्रचार-प्रसार आदि का कार्य शुरू कर देता है। यहाँ उसे ग्रामीण जीवन की वास्तविकताओं का पता चलता है। वह अछूतों के जीवन का सूक्ष्म अध्ययन करता है। उनकी समस्याओं को समझने का प्रयास करता है और किसानों के रूप में भी अछूतों को किन समस्याओं से दो-चार होना पड़ता है, इन सब मुद्दों की पड़ताल यहाँ है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है गाँव में दलित जातियाँ ही ज्यादातर रहती हैं और जमींदारों के कारिन्दे और कारकुन उनका निरंतर शोषण करते रहते हैं। इस इलाके का जमींदार एक महन्त है। दलित किसान शोषण और अन्याय की चक्की में कैसे पीसे जा रहे हैं, उसका एक चित्र यहाँ प्रस्तुत है :

" ठाकुरद्वारे में कोई न कोई उत्सव होता ही रहता था। कभी ठाकुरजी का जन्म है, कभी ब्याह है, कभी यज्ञोपवीत है, कभी झूला है, कभी जल-विहार है। असामियों को इन अवसरों पर बेगार देनी पड़ती थीं, भेंट-न्यौछावर, पूजा-चढ़ावा आदि नामों से दस्तूरी चुकानी पड़ती थी; लेकिन धर्म के मुआमले में कौन मुँह खोलता! धर्म संकट सबसे बड़ा संकट है। " 72

वस्तुतः देखा जाए तो सामंती समाज-व्यवस्थाने आर्थिक-सामाजिक विषमता को कायम रखने के लिए धर्म का एक औजार के रूप में इस्तेमाल किया है। इसके सरंक्षण में अछूतों और गरीबों के लिए एक से बढ़कर एक तीर हैं। जन्मांतरवाद भी ऐसा ही एक तीर है। "कर्मभूमि" में प्रेमचन्द ने यह दिखाया है कि अब पिछड़े तबके में भी धर्म-विषयक नयी समझ और चेतना प्रस्फुटित हो रही है। चमारों के चौधरी गूदड़ के वार्तालाप से यह बात सिद्ध हो रही है :

" चौधरी ने संदेह का सहारा लिया — भगवान ने छोटे-

बड़े का भेद क्यों लगा दिया, इसका मरम समझ में नहीं आता। उसके तो सभी लड़के हैं। फिर सबको एक आँख से क्यों नहीं देखता।

"पयाग ने शंका समाधान की — पूरब जनम का संस्कार है। जिसने जैसे कर्म किये, वैसे फल पा रहा है।

" चौधरी ने खंडन किया — यह सब मन को समझाने की बातें हैं बेटा, जिसमें गरीबों को अपनी दशा पर संतोष रहे और अमीरों के राग-रंग में बाधा न पड़े। लोग समझते रहें कि भगवान ने हमको गरीब बना दिया, आदमी का क्या दोष; पर यह कोई न्याय नहीं कि हमारे बाल-बच्चे तक काम में लगे रहें और भरपेट भोजन न मिले और एक-एक अफसर को दस-दस हजार की तनख्वाह मिले।" 73

अछूतों के सबसे खिलाफ जाने वाली बात यह है कि वे मुर्दा गाय का माँस खाते हैं। अमर उनकी यह आदत भी छुड़वा देता है। इस काम में मुन्नी ठकुरानी उसकी मदद करती है। यथा — " मुन्नी झुंझलाकर बोली — जो चीज किसी और ऊँची जाति वाले नहीं खाते, उसे हम क्यों खाएं, इसीसे तो लोग नीच समझते हैं। ... पयाग ने आवेश में कहा — तो हम कौन किसी बाम्हन-ठाकुर के घर बेटी ब्याहने जाते हैं। बाम्हनों की तरह किसीके द्वार पर भीख माँगने तो नहीं जाते? यह तो अपना-अपना रिवाज है। ... मुन्नी ने डाँट बतायी — यह कोई अच्छी बात है, कि सब लोग हमें नीच समझें, जीभ के स्वाद के लिए।" जब वाद-विवाद से काम नहीं बनता, तब मुन्नी गाय के पास बैठ जाती है और सबको ललकारते हुए कहती है — " अब जिसे गँडासा चलाना हो चलाये, मैं बैठी हूँ।" अंत में सूरा नामक युवक पंचायत की राय को अपनी तरफ से सुनाता है — " मरी गाय के माँस में ऐसा कौन-सा मजा रखा है, जिसके लिए सब जने मरे जा रहे हो? गड्ढा खोदकर माँस गाड़ दो, खाल निकाल लो। वह भी जब अमर भैया की सलाह हो।

हमको तो उन्हीं की सलाह पर चलना है । उनकी राह पर चलकर हमारा उद्धार हो जायेगा । सारी दुनिया हमें इसीलिए तो अछूत समझती है कि हम शराब-दारू पीते हैं, मुरदा-मांस खाते हैं और चमड़े का काम करते हैं । और हममें क्या बुराई है ? दारू-शराब हमने छोड़ ही दी — हमने क्या छोड़ दी, समय ने छुड़वा दी — फिर मुरदा-मांस में क्या रखा है ? रहा चमड़े का काम, उसे कोई बुरा नहीं कह सकता, और अगर कहे भी तो हमें उसकी परवाह नहीं । चमड़ा बनाना-बेचना कोई बुरा काम नहीं है ।" 74

अमर के कारण गांव में कितना सुधार होता है उसका वर्णन इस प्रकार है —" कई महीने गुजर गये । गांव में फिर मुरदा-मांस न आया । आश्चर्य की बात तो यह थी कि दूसरे गांव के चमारों ने भी मुरदा-मांस खाना छोड़ दिया । कुछ उद्योग कुछ संक्रामक होता है । ... अमर की शाला अब नयी इमारत में आ गयी थी । शिक्षा का लोगों को कुछ ऐसा चस्का पड़ गया था कि जवान-जवान बूढ़े भी आ बैठते और कुछ-न-कुछ सीख जाते । अमर की शिक्षा-शैली आलोचनात्मक थी । अन्य देशों की सामाजिक और राजनीतिक प्रगति, नये-नये आविष्कार, नये-नये विचार, उसके मुख्य विषय थे । देश-देशान्तरों के रस्मों-रिवाज, आचार-विचार की कथा सभी चाव से सुनते । उसे यह देखकर कभी-कभी विस्मय होता था कि ये निरक्षर लोग जटिल सामाजिक सिद्धान्तों को कितनी आसानी से समझ जाते हैं । सारे गांव में एक नया जीवन प्रवाहित होता हुआ जान पड़ता । छूत-छात का जैसे लोप हो गया था । दूसरे गांवों के भी ऊंची जातियों के लोग भी अक्सर आ जाते थे ।" 75

ग्राम्य विस्तार में जहां ऐसी सुधारवादी प्रवृत्ति चल रही है, वहां शहरवाले प्रसंगों में मंदिर-प्रवेश की समस्या को लेखक ने उकेरा है । पूर्ववर्ती पृष्ठों में दिखाया जा चुका है तीसरे

दशक के अन्त तक में मंदिर-प्रवेश की समस्या गंभीर स्वरूप धारण कर रही थी । सन् 1930 में डा. आंबेडकर ने नासिक में मंदिर-प्रवेश को लेकर आंदोलन चलाया था । "कर्मभूमि" में इस समस्या को व्यापक ढंग से उठाई गयी है । डा. शांतिकुमार, सुखदा, रेणुकादेवी, समरकान्त, सकीना की बूढ़ी माँ, नैना आदि पात्रों के द्वारा शहर में यह आंदोलन चल रहा है । डा. शांतिकुमार का यह वक्तव्य देखिए :

" क्या तुम ईश्वर के घर से गुलामी करने का बीड़ा लेकर आये हो ? तुम सब-सब से दूसरों की सेवा करते हो ; पर तुम गुलाम हो । तुम्हारा समाज में कोई स्थान नहीं । तुम समाज की बुनियाद हो । तुम्हारे ऊपर समाज खड़ा है, पर तुम अछूत हो । तुम मंदिर में नहीं जा सकते । ऐसी अनीति इस अभागे देश के सिवा और कहाँ हो सकती है ? क्या तुम सदैव इसी भाँति पतित और दलित बने रहना चाहते हो ? ... एक आवाज़ आयी -- हमारा क्या बस है ? ... शांतिकुमार ने उत्तेजनापूर्ण स्वर में कहा -- तुम्हारा बस उस समय तक कुछ नहीं है, जब तक समझते हो, तुम्हारा बस नहीं है । मंदिर किसी एक आदमी या समुदाय की चीज नहीं है । वह हिन्दू-मात्र की चीज है । यदि तुम्हें कोई रोकता है, तो यह उसकी जबरदस्ती है । मत टलो उस मंदिर के द्वार से, चाहे तुम्हारे ऊपर गोलियों की वर्षा हो क्यों न हो ? तुम ज़रा-ज़रा सी बात के पीछे अपना सर्वस्व गंवा देते हो, जान दे देते हो, यह तो धर्म की बात है, और धर्म हमें जान से भी प्यारा होता है । धर्म की रक्षा सदा प्राणों से हुई है और प्राणों से होगी । "[76]

और ऐसा ही होता है । लोग डट जाते हैं । गोलियाँ चलने लगती हैं । सब कुछ लोग भागने लगती हैं । अचानक सुखदा आकर पुलिसवालों के आगे खड़ी हो जाती है और लोगों को ललकारते हुए कहती है -- " भाइयो ! क्यों भाग रहे हो ? यह भागने का समय नहीं, छाती खोलकर सामने आने का समय है । शिक्षा हो

कि तुम धर्म के नाम पर किस तरह प्राणों को होम करते हो । धर्मवीर ही ईश्वर को पाते हैं । भागनेवालों की कभी विजय नहीं होती । ... भागनेवालों के पांव संभल गये । एक महिला को गोलियों के सामने खड़ी देखकर कायरता भी लज्जित हो गयी । ... कायरता की भांति वीरता भी संक्रामक होती है । एक क्षण में उड़ते हुए पत्तों की तरह भागनेवाले आदमियों की एक-एक दीवार-सी खड़ी हो गयी । अब डण्डे पड़े, या गोलियों की वर्षा हो, उन्हें भय नहीं ।" 77

और धर्म, न्याय और सत्य की इस लड़ाई में अन्त में अछूतों की जीत होती है । मंदिर के दरवाजे सबके लिए खुल जाते हैं । "रंगभूमि" में सूरदास अपने समर्पण से, अपने बलिदान से ऊँची जातियों के हृदयासन पर विराजित हो जाता है; यहां पर सभ्यची जाति अपने अधिकारों के लिए जान की बाजी लगा देती है और तब वही होता है, जो होना चाहिए । बरसों से जो अन्याय और शोषण चल रहा है, उसे दूर करने के लिए कुछ लोगों को तो अपना शोणित बहाना पड़ेगा ।

गोदान :

प्रेमचन्द की औपन्यासिक कला का सर्वोत्तम शिखर "गोदान" है । प्रेमचन्द के पत्र-व्यवहार से ज्ञात होता है कि उसका लेखन तो सन् 1932 से शुरू हो गया था, किन्तु "हंस" और "जागरण" की अनेक कठिनाइयों के कारण उसके लिखे जाने की गति काफी धीमी रही और उसका प्रकाशन सन् 1936 में संभव हो सका । सन् 1934 में कांग्रेस ने आंदोलन एक ऐसे बिन्दु पर वापस ले लिया जब राष्ट्रीय आंदोलन चरम शिखर पर था । नतीजतन कई तत्व साम्राज्यवाद के विरोध में खड़े हुए । कांग्रेस में ही ऐसे सोचनेवाले लोगों को लेकर कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना हुई । यह वही बिन्दु है, जहां

से प्रेमचन्द भी गांधीवादी व्यमोह से कुछ मुक्त होते दिख रहे हैं। गांधीवाद से उनकी आस्था टूट चुकी है और मार्क्सवाद की ओर उनका चिंतन अग्रसरित होता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। "गोदान" का प्रो. मेहता मानो प्रेमचन्द का ही प्रवक्ता है : "लक्ष्मीपतियों की बदौलत ही हमारी बड़ी-बड़ी संस्थाएं चलती हैं। राष्ट्रीय आंदोलन को दो-तीन साल तक किसने इतनी धूम-धाम से चलाया। इतनी धर्मशालाएं और पाठशालाएं कौन बनवा रहा है ? आज संसार का शासन सूद खोरों के हाथ में है। सरकार उनके हाथ का खिलौना है।" 78

यही प्रो. मेहता "गोदान" के जमींदार रायसाहब अमरपाल-सिंह को भी खरी-खरी सुना देता है : "मानता हूं, आपका अपने आसामियों के साथ बहुत अच्छा बर्ताव है। मगर प्रश्न यह है कि उसमें आपका स्वार्थ है या नहीं। इसका एक कारण क्या यह नहीं हो सकता कि मद्धिम आंच में भोजन स्वादिष्ट पकता है। गुड़ से मारने वाला जहर से मारने वाले की अपेक्षा कहीं सफल हो सकता है। मैं तो केवल इतना जानता हूं कि हम या तो साम्यवादी हैं या नहीं हैं। ~~हैं~~ हैं, तो उसका व्यवहार करें, नहीं तो बकना छोड़ दें।" 79

प्रस्तुत उपन्यास में प्रेमचन्द अछूतों और अन्य पिछड़ी जातियों की आर्थिक-सामाजिक-धार्मिक समस्याओं का वस्तुनिष्ठ ढंग से चित्रण करते हैं। अन्य उपन्यासों की भांति यहां भी वे ऊंची जातियों और ऊंचे तबकों के पाखंडी, ~~स्वार्थ~~ स्वार्थी, अन्यायपूर्ण, परोपजीवी चरित्र की खबर लेते हैं। उपन्यास का नायक होरी कुरमी जाति का काश्तकार है। कुरमी अछूत जाति नहीं है, पर कोई ऊंची जाति भी नहीं है। ऐसी जाति के लोगों के साथ अन्य लोगों का व्यवहार उनके आर्थिक संस्तरण पर निर्भर रहता है। आर्थिक दृष्टया नीचे गिरकर होरी जब दातादीन का

बंधुआ खेतमजदूर हो जाता है, तब एक स्थान पर पं. दातादीन होरी को कहता है :" अरे भले आदमी, इसमें लाज-शरम की कौन बात है ? हम सब एक ही तो हैं। तुम शूद्र हुए तो क्या, हम ब्राह्मण हुए तो क्या, हैं तो सब एक ही घर के।" 80 इस प्रकार संवेदना जताते हुए भी सिफतपूर्वक दातादीन होरी को नीच जाति का करार देता है।

पं. दातादीन धनिया को "कुल-मरजादा" की सीख देते हैं, पर अपने लड़के के करम नहीं देखते — " दातादीन का लड़का मातादीन एक चमारिन से फंसा हुआ था। पर वह तिलक लगाता था। पोथी-पत्रे बांचता था, कथा-भागवत कहता था, धर्म-संस्कार कराता था। उसकी प्रतिष्ठा में जरा भी कमी न थी। वह नित्य स्नान-पूजा करके अपने पापों का प्रायश्चित कर लेता था।" 81

सिलिया मातादीन की रखैल जरूर है, परन्तु उसकी गति सहवास और खेती के तनतोड़ काम तक सीमित है। स्वयं मातादीन कहता है :"मेरा तो सिलिया से जितना उबार होता है, उतना ब्राह्मण की कन्या से क्या होगा ? वह तो बहुरिया बनी बैठी रहेगी, बहुत हुआ रोटियां पका देगी। यहां सिलिया अकेली तीन आदमियों का काम करती है। और मैं उसे रोटी के सिवा और क्या देता हूं ? बहुत हुआ, तो साल में एक धोती दे दी।" 82 इस प्रकार खेतीकाम और सहवास तक सिलिया है। वह सहभोज की अधिकारिणी नहीं। दातादीन कहते हैं — " सिलिया हमारी चौखट नहीं लांघ पाती, चौखट ; बरतन-भांडे छूना तो दूर की बात है।" 83 लेखक इस संदर्भ में अपनी टिप्पणी देता है : " दातादीन भी अपनी जवानी में स्वयं बड़े रसिया रह चुके

थे ; लेकिन अपने नेम-धर्म से नहीं चुके । मातादीन भी सुयोग्य पुत्र की भाँति उन्हीं के पद-चिह्नों पर चल रहा था । धर्म का मूल तत्व है पूजा-पाठ , कथा-व्रत और चौका-चूल्हा । जब पिता-पुत्र दोनों ही मूल तत्व को पकड़े हुए हैं , तो किसकी मजाल है कि उन्हें पथ-भ्रष्ट कह सके ! " 84 नीची जाति की स्त्री के साथ भोग-विलास तो किया जा सकता है , लेकिन रसोई में वह नहीं जा सकती , यही धर्म का मूल तत्व है ! तभी तो सिलिया की माँ उनके इस धर्म के "मूल-तत्व" की पोल खोलते हुए कहती है — " उसके साथ सोओगे , लेकिन उसके हाथ का पानी न पियोगे । " 85

और इसलिए प्रस्तुत उपन्यास में धर्म के उस "मूल तत्व" [9] पर ही प्रहार किया गया है । "मेरी पहली रचना "में [कहानी] में ऐसी ही स्थिति में अपनी संघ-शक्ति के बल पर चमार ऊँची जाति के एक युवक को पीट-पाटकर चल देते हैं , किन्तु यहाँ उससे भी एक कदम आगे की और लेखक बढ़ गये हैं । वे मातादीन का "धरम" ही छीन लेते हैं । "खून का बदला खून " की भाँति इज्जत का बदला धरम " यह समीकरण यहाँ बनता है । एक दिन चमार मातादीन को उसके खेत में घेर लेते हैं । सिलिया का बाप हरखू कहता है : " हम आज मातादीन को चमार बनाके छोड़ेंगे , या उनका और अपना रक्त एक कर देंगे । सिलिया कन्या जात है , किसी न किसी के घर जायगी ही । इस पर हमें कुछ नहीं कहना है ; मगर उसे जो कोई भी रखे , हमारा होकर रहे । तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते , मगर हम तुम्हें चमार बना सकते हैं । हमें ब्राह्मण बना दो , हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है । अब यह समरथ नहीं है , तो फिर तुम भी चमार बनो । हमारे साथ खाओ-पिओ, हमारे साथ उठो-बैठो । हमारी इज्जत लेते हो , तो अपना धर्म हमें दो । " 86 और ऐसा कहता हुए दो चमार मातादीन को पकड़ लेते हैं , उसके जनेऊ को तोड़ डालते हैं और उसके मुँह में

हड्डी का एक बड़ा-सा टुकड़ा डाल देते हैं । इस "हड्डी" ने धर्म के उस "मूल तत्व" को धराशायी कर दिया । यद्यपि काशी के पंडितों को बुलाकर उसका पवित्रीकरण किया गया । उस टकोतले का भी बड़ा ही व्यंग्यात्मक चित्रण लेखक ने किया है । उससे शातादीन की शुद्धि हुई हो या न हुई हो , परन्तु उस दिन से धर्म के नाम से उसे चिढ़ हो गई । जनेऊ और पुरोहिती को गंगा में डुबोकर वह सचमुच का सेतिहर हो गया । सारे ढोंग-टकोसलों को उठाकर वह मुन्नमहुन्ना सिलिया चमारिन के साथ उसके ही झोंपड़े में रहने लगा । सिलिया उससे पूछती है — "और तुम्हारा खाना कौन पकाएगा ? — मेरी रानी सिलिया । ... तो ब्राह्मन कैसे रहोगे ? ... मैं ब्राह्मण नहीं , चमार ही रहना चाहता हूँ । जो अपना धरम पाले , वही ब्राह्मण है , जो धरम से मुँह मोड़े, वही चमार है । ... सिलिया ने उसके गले में बाहें डाल दीं ।" 67

इस प्रकार हम देखते हैं कि "गोदान" तक आते-आते लेखक वर्ग-संघर्ष की जमीन को तैयार करने लगते हैं ।

निष्कर्ष :

अध्याय के समग्राकलन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों तक पहुँच सकते हैं :

(1) जातिप्रथा तथा वर्ण-व्यवस्था पर प्रथम प्रहार बौद्ध धर्म द्वारा हुआ । सामाजिक कर्मकाण्डों के नाम पर टकोसलों का विरोध वहाँ हुआ और कर्म के आधार पर मानवीय मूल्यांकन की बात वहाँ उठी ।

(2) मध्यकालीन निर्गुण संप्रदाय के ज्ञानमार्गी संतकाव्य की भूमिका का निर्माण बौद्धमत से शुरू हो गया था ।

(3) नवजागरण काल में ब्रह्मोसमाज , आर्यसमाज ,

प्रार्थनासमाज आदि धार्मिक-सामाजिक आंदोलनों ने दलित-विमर्श को एक मुकम्मिल रीढ़ प्रदान की ।

§4§ दयानंद सरस्वती , केशवचन्द्र सेन , नारायण गुरु , ज्योतिबा फुले , स्वामी विवेकानंद , महात्मागांधी , डा. बाबा साहब आंबेडकर प्रभृति महानुभावों ने दलित-विमर्श को एक निश्चित दिशा में आगे बढ़ाया ।

§5§ महात्मा गांधी अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म का कलंक मानते थे , तथापि xx वर्ण-व्यवस्था के प्रति उनके मन में श्रद्धा थी और वे हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त को मानते थे । ज्योतिबा , नारायण गुरु तथा डा. आंबेडकर आदि में जो प्रखरता , उग्रता और उद्दंडता पाई जाती है उसका महात्मा गांधी में कुछ अभाव-सा है ।

§6§ अन्य विधाओं की भांति प्रेमचन्द में दलित-विमर्श भी क्रमशः विकसित , स्पष्ट और प्रखर होता गया है ।

§7§ प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों में दलित-विमर्श किसी-न-किसी रूप में मिलता है , तथापि "प्रेमाश्रम" , " रंगभूमि" , "कर्मभूमि" और "गोदान" जैसे उपन्यासों में दलित-विमर्श क्रमशः आगे की ओर अग्रसरित होता हुआ प्रतीत होता है ।

xxxxxx ====== xxxxxxx

:: सन्दर्भानुक्रम ::

§1§ संस्कृति के चार अध्याय : डा. रामधारीसिंह दिनकर : पृ. 198 ।

§2§ और §3§ : वही : पृ. क्रमशः 199 , 338 ।

§4§ ए सेन्च्युरी आफ सोशियल रिफोर्म्स इन इण्डिया : डा. एस. नटराजन : पी. 38 ।

§5§ और §6§ : इबिड : पीपी: 49 , 51 ।

§7§ भारतीय चिंतन परंपरा : के. दामोदरन : पृ. 381-382 ।

§8§ और §9§ : वही : पृ. क्रमशः 385 , 386-387 ।

§10§ द्रष्टव्य : प्रेमचन्द और अछूत समस्या : डा. कांतिमोहन : पृ. 51 ।

§11§ वही : पृ. 51 ।

§12§ डिसकवरी आफ इण्डिया : पं. नेहरू : पी. 355 ।

§13§ ए सेन्च्युरी आफ सोशियल रिफोर्म्स इन इण्डिया : पी. 257-258.

§14§ इबिड : पी. 16 .

§15§ द्रष्टव्य : आर्य समाज : पृ. 257-258 ।

§16§ डिसकवरी आफ इण्डिया : पी. 357.

§17§ इबिड : पी. 357.

§18§ भारतीय चिंतन परंपरा : पृ. 373 ।

§19§ और §20§ : वही : पृ. क्रमशः 373, 373 ।

§21§ राष्ट्रपिता महात्मा गांधी : ना. रा. अभ्यंकर : पृ. 138-139 ।

§22§ हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग : डा. कुसुम मेघवाल : पृ. 32 ।

§23§ विविध प्रसंग : प्रेमचन्द : पृ. 373-374 ।

§24§ वही : पृ. 442 ।

§25§ प्रेमचन्द और अछूत समस्या : डा. कांतिमोहन : पृ. 112 ।

§26§ विविध प्रसंग : प्रेमचन्द : पृ. 450 ।

§27§ विविध प्रसंग : प्रेमचन्द : पृ. 455 ।

§28§ से §31§ : वही : पृ. क्रमशः 464-466, 468, 57, 471 ।

§32§ प्रेमचन्द और अछूत समस्या : डा. कांतिमोहन : पृ. 119-120 ।

§33§ विविध प्रसंग : पृ. 473 ।

§34§ प्रेमचन्द और अछूत समस्या : पृ. 120 ।

§35§ वही : पृ. 180-181 ।

§36§ से §38§ : मंगलाचरण : पृ. क्रमशः 45, 46, 302 ।

§39§ वरदान : पृ. 145 ।

§40§ से §42§ : सेवासदन : पृ. क्रमशः 320, 173, 269-270 ।

§43§ प्रेमचन्द और अछूत समस्या : पृ. 186-187 ।

§44§ वही : पृ. 266-267 ।

§45§ से §50§ : पृ.xxक्रमशः प्रेमाश्रम : पृ. क्रमशः 185, 185, 188, 189, 85, 61-62 ।

§51§ से §53§: रंगभूमि : पृ. क्रमशः 53, 110, 125 ।

§54§ द्रष्टव्य : धरती धन न अपना : जगदीशचन्द्र : पृ. 58 ।

§55§ से §60§ : रंगभूमि : पृ. क्रमशः 477, 475-476, 476, 477-478 478, 489 ।

§61§ से §63§ : कायाकल्प : पृ. क्रमशः 112, 112, 113 ।

§64§ से §68§ : गबन : पृ. क्रमशः 122, 160, 160, 208, 122 ।

§69§ प्रेमचन्द और अछूत समस्या : पृ. 222 ।

§70§ से §77§ : कर्मभूमि : पृ. क्रमशः 80-81, 122, 241, 129, 144-145, 147, 173, 178, ।

§78§ से §87§ : गोदान : पृ. क्रमशः 199, 57, 150, 185, 206, 206, 206, 208, 208, 289 ।

====== xxxxxx ======